दैशिक-शास्त्र

लेखक

श्री बद्रीसाह ठुलघरिया

अल्मोड़ा–हिमालय

सम्पादक

श्री गिरिराज शाह

शारदा पुस्तकालय
(संजीवनी [illegible])
क्रमांक... 205

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

शारदा पुस्तकालय
(संजीवनी शा॰ दा॰ केन्द्र)
क्रमांक ... २०५ ...

२०२

माननीय श्री इन्द्रेश जी,

— हरिमोहन शर्मा
प्राध्यापक, राजनीति शास्त्र
दिल्ली विश्वविद्यालय

दैशिक-शास्त्र

लेखक

श्री बद्रीसाह ठुलघरिया

अल्मोड़ा–हिमालय

सम्पादक

श्री गिरिराज साह

शारदा पुस्तकालय
(संजीवनी शारदा केन्द्र)
क्रमांक ... 205

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

द्वितीय संस्करण : १९८३ ई०
मूल्य सजिल्द : २५ रुपये
अजिल्द : २० रुपये

-205

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी

मुद्रक
भैरव प्रसाद
युवराज प्रिंटिंग प्रेस
बागबरियार सिंह, वाराणसी

प्रकाशकीय

'दैशिक शास्त्र' भारतीय सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, समाज शास्त्र तथा धर्मशास्त्र का सारतत्व प्रस्तुत करने वाला अनुपम ग्रंथ है। जब पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने इस देश को आक्रांत करना आरंभ किया और देश की जनता दासता से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रही थी, श्री बद्रीसाह ठुलधरिया जी ने दैशिकशास्त्र की रचना कर देशवासियों को निजत्व का बोध कराते हुए भारतीय जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया ताकि अपने देश की वैचारिक और जीवनगत विशिष्टता उनके सामने रहे, उन्हें प्रेरणा देती रहे और उन्हें अपने संघर्ष का आगामी स्वरूप निश्चित करने में सहायता मिले।

भारतीय राजशास्त्र का मर्म उद्घाटित करती यह रचना प्रत्येक बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ, प्रशासक तथा नागरिक को देश की गरिमामयी परम्परा का ज्ञान करायेगी और राष्ट्रीयता का बोध कराती हुई मनोबल प्रदान करेगी।

ग्रंथ की रचना लगभग ६३ वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय की घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ लेखक के सामने थीं, उन्हीं का संदर्भ लेखक ने दिया है अतः पढ़ते समय पाठक कृपया रचनाकाल का ध्यान रखें।

—प्रकाशक

अपनी ओर से

बाल गंगाधर तिलक स्मारक "दैशिक शास्त्र" की रचना मेरे पितामह स्वर्गीय श्री बद्रीसाह ठुलधरिया ने शुक्ल सं० १९७८ में की थी। उसकी पांडुलिपि को स्वयं श्री बाल गंगाधर तिलक ने देखा था और पूर्ण उत्साहवर्धक सन्तोष व्यक्त किया था।

प्रकाशनोपरान्त यह पुस्तक चिरस्मरणीय महात्मा गांधी के कर कमलों में पहुँची, उन्होने देखा, पढ़ा और अपनी प्रतिकिया व्यक्त करते हुए कहा कि:—

"दैशिक शास्त्र" यह नाम पढ़कर पहले पहल हमें कुछ आश्चर्य हुआ पर जब पुस्तक को शुरू से अन्त तक हमने पढ़ डाला तब आश्चर्य का स्थान आदर और प्रशंसा ने ले लिया। प्राच्य राजनीति पर इतनी उत्कृष्ट पुस्तक हिन्दी में हमने यह पहली ही देखी। इसके अवलोकन से एक ओर जहाँ भारतीय राजनीति-विज्ञान के मर्ममूल, सहज गंभीरता, सनातन तत्व और उपयोग का बोध होता है, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी राजनीति में उपलब्ध अस्थिरता और अपरिपक्वता का परिचय मिलता हैं। राजनीति की भाषा में धर्म और अध्यात्म तत्वों की इतनी सुन्दर विवेचना करने के लिये लेखक श्री बद्रीसाह ठुलधरिया, अल्मोड़ा, हिन्दी और देश भक्तों के अभिनन्दन के पात्र हैं। भगवद्गीता और उपनिषदों को यदि कोई राजनीति की भाषा में पढ़ना चाहे तो वह इस ग्रन्थ को जरूर पढ़े। पुस्तक की भाषा प्रौढ़ और सूत्रात्मक है तथा विवेचन शैली शास्त्रीय। जिन-जिन राष्ट्रीय विद्यालयों में राजनीति शास्त्र पढ़ाया जाता है उसमें तो यह पाठ्य पुस्तक के तौर पर रक्खे जाने के योग्य है। ('नवजीवन' दैनिक, ८ फरवरी १९२३।)

बापू की इस सम्मति से उस पुस्तक को पर्याप्त प्रचार-प्रसार मिला। उसके आवरण आलेख तथा विषय-वस्तु ने सभी को आकृष्ट किया तथा तत्कालीन शीर्षस्थ राजनेताओं तथा विचारकों ने उसका समादर किया।

पुनः यह पुस्तक लेखमाला के रूप में 'पांचजन्य' वर्ष १९५९ में प्रकाशित हुई और उक्त लेखमाला की समाप्ति पर पं० दीनदयाल उपाध्याय ने देशवासियों से अनुरोध किया कि "दे 'दैशिकशास्त्र' का बहुत ध्यान पूर्वक अध्ययन करें क्योकि आर्ष एवम सामयिक भारतीय सिद्धान्तों का विवेचन करने वाली 'दैशिक शास्त्र' अकेली ही पुस्तक है, आज से चालीस वर्ष पूर्व एक तपःपूत तत्वदर्शी

महात्मा श्री १०८ सोम्बारी के आशीर्वाद से स्व० श्री बद्रीसाह ठुलधरिया ने दैशिक शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्तों का ज्ञानप्राप्त किया और 'दैशिकशास्त्र' नाम से पुस्तक प्रकाशित की .... भारतीय संस्कृति के सत्य तत्त्वों को हिमालय की कन्दरा से निकाल कर जीवन के चौराहे पर खड़ा कर दिया और इसने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को अनन्त शक्ति का स्रोत प्रदान किया। कर्मयोग शास्त्र और दैशिकशास्त्र पूरक ग्रन्थ हैं।"

स्व० पं० दीनदयाल उपाध्याय इस पुस्तक का नियमित मनन एवं अनुशीलन करते थे तथा उसे प्रेरणास्रोत मानते थे।

एक लम्बे कालान्तर के पश्चात्, आज भी इस पुस्तक के प्रति लोगों की जिज्ञासा, माँग तथा कुछ देश प्रेमी विद्वत्जनों एवम् चितनशील नागरिकों के बार-बार के आग्रह ने मुझे प्रेरित किया कि समकालीन समस्याओं को दृष्टिगत रख उसका संशोधित एवं सम्पादित संस्करण प्रकाशित कराऊँ और उन तक पहुँचाऊँ जिनके भीतर देश के प्रति एक गहरा रागात्मक लगाव, भक्ति तथा सेवा की भावना है। इसीलिये पुस्तक की मूल भूमिका को मैने ज्यों का त्यों रहने दिया ताकि लोग पुस्तक के मूल उद्देशय से पूर्णतः परिचित हो सकें।

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन के पीछे मेरी भी एक महत्वाकांक्षा है—पूज्य पितामह की स्मृति में एक "बद्रीसाह ठुलधरिया स्मारक दैशिक संस्थान" स्थापित करने की। मुझे आशा हो नहीं पूर्ण विश्वास है कि आप सबका सहयोग तथा आशीर्वाद प्राप्त होगा और इस कार्य को मैं शीघ्र ही पूर्ण कर सकूंगा।

अन्त में मैं विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के प्रति आभारी हूँ जिनके उदार सहयोग एवं रचनात्मक सुझाव से मुझे पर्याप्त बल मिला और मैं यह संशाधित तथा सम्पादित संस्करण आप देश प्रेमी जिज्ञासुओं को समर्पित कर सका। यदि यह संस्करण वर्तमान परिवेश में वैचारिक स्थिरता लाने में आपके सद्प्रयास में सहयोगी बन सका, तो हमें प्रसन्नता होगी।

गाजीपुर
नागपंचमी (अगस्त) १९८३

गिरिराज शाह

भूमिका

श्रीयुत गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि

'यद्यपि जग दुःख दारुण नाना
सबतें कठिन जाति अपमाना।'

जाति अपमान जनित यह कठिन दुःख उस समय और भी दारुण हो जाता है जब अपने ही लोगों के हाथ से अपनी जाति का अपमान होने लगता है। किसी जाति का अपमान अपने लोगों से तब होने लगता है जब उसके नाश का समय आ जाता है अथवा उस जाति में दैशिक-बुद्धि नहीं रहती है। दैशिकबुद्धि से न केवल जाति का अभ्युदय ही होता है किन्तु अवपात के समय भी वह वीरशय्या में प्रवेश किये हुए भीष्म के समान शोभायमान होती है, दैशिक बुद्धिहीन जाति के उदय के समय भी द्रौपदी का चीर हरण करते हुए दुःशासन के समान घृणास्पद होती है। निन्दनीय अभ्युदय की अपेक्षा प्रशंसनीय अवपात शतधा सहस्रधा अभीष्ट होता है; अतः जातियों के लिए दैशिक बुद्धि की विशेष आवश्यकता होती है, किन्तु दैशिक-बुद्धिरूपी दीप बिना दैशिकशास्त्र रूपी तेल से चल नहीं सकता है।

इन दिनों भारतवर्ष का दिङ्मण्डल उदय होते हुए दैशिक बुद्धिरूपी तिमिरारि की किरणों से दीप्तिमान हो रहा है, भारत सन्तानों की रुचि अपने शास्त्र, अपने साहित्य, अपनी परिष्कृतिकी ओर हो रही है, सर्वत्र जात्युपकार और देशोत्कर्ष की चेष्टा हो रही है। अनेक भाग्यशाली माता के लाल भारत की भटकी हुई नौका को बचाने की चेष्टा कर रहे हैं; यह चेष्टा वीर पुरुष रत्नों का श्रेष्ठ काम है, ऐसे कार्यों के लिए दैशिक शास्त्र रूपी ध्रुव की अगवानी होनी चाहिए, किन्तु यह भ्रम रूपी कुहरा कि हमारा कोई दैशिक शास्त्र नहीं है, इस शास्त्र के विषय में हमें पाश्चात्यों से शिक्षा लेनी है, हमारे दैशिकशास्त्र के ध्रुव का प्रकाश नहीं होने देता। जब तक यह भ्रमरूपी कुहरा नहीं हटता है तब तक हमारे दैशिक बुद्धि रूपी दिवाकर का प्रकाश पूर्णतया हो नहीं सकता है।

इन सब कारणों से अपने लोगों को अपने प्राचीन दैशिकशास्त्र को स्मरण कराने के लिए अपने प्राचीन आचार्यों के बिखरे हुए दैशिक सिद्धान्त रूपी फूलों को इस पुस्तक में गूंथने की चेष्टा की गई है। यह स्मरण रहना चाहिए कि भारत का प्राचीन दैशिक शास्त्र रूपी अगाध सागर मेरे अल्प विषयाबुद्धि रूपी पात्र में समा नहीं सकता है, जो कुछ समाया हुआ है वह अनेक कारणों से पूर्णतया लिखा नहीं जा सकता है। इस पुस्तक में बातें सब प्राचीन है, केवल भाषा और शैली अर्वाचीन है।

यह पुस्तक देशभक्तों के लिए लिखी गई है न कि वेद पुराणों के लिखे जाने के समय की खोज करने वाले पुरातत्त्व जिज्ञासुओं के मनोरंजन के लिए। इस पुस्तक का उद्देश्य है अपने लोगों को अपने दैशिक शास्त्र की स्मृति कराने का न कि विद्वद्विलास; अतः इस पुस्तक में यह नहीं लिखा गया कि कौन बात कहाँ से किस आधार पर लिखी गई है, अपरंच ऐसा करने से पुस्तक का अनावश्यक विस्तार हो जाता।

भगवान् पाणिनी के 'रक्षति' सूत्र के अनुसार देश शब्द में 'ठक्' प्रत्यय लगाने से 'दैशिक' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है देश की रक्षा करने वाला, अतः "दैशिकशास्त्र" का अर्थ होता है देश की रक्षा करने वाला शास्त्र। इस दैशिक-शास्त्र का कुछ अंश बहुत पहिले लिखा गया था जो लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाराज को भेजा गया था जिसको पढ़कर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इस पुस्तक के विषय में यह लिखा "I have read your दैशिकशास्त्र with great pleasure, my view is entirely in accord with yours and I am glad to find that it has been so forcibly put forward by you in Hindi." लोकमान्य द्वारा इस पुस्तक की भूमिका लिखी जाने वाली थी; किन्तु सहसा उनके शरीर त्याग हो जाने के कारण ऐसा न हो सका। अतः यह पुस्तक स्मारक रूप में प्रकाशित कर देना उचित समझा गया।

इस पुस्तक के पहिले अध्याय का द्वितीय आह्निक "देश भक्ति से दोनों लोक" नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था, उसमें इस पुस्तक के लिखे जाने का कुछ सङ्केत किया गया था जिसे अब श्रीयुत लोकमान्य के सखा श्रीयुत नरहर जोशी के चित्रशाला प्रेस मे छपने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अन्त में पाठकों से निवेदन है कि इस पुस्तक को ध्यान पूर्वक पढ़ें और मनन करें, यदि यह पुस्तक उनको हितकर और मनोहारि जंचे तो वे श्रीयुत लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक के इस स्मारक का प्रचार कर के देश सेवा में हाथ बटायें।

इत्यलम्—

अल्मोड़ा—हिमालय, कार्तिक शुक्ल १७, सं. १९७८

वद्रीसाह ठुलधरिया

विषय सूची

प्रकाशकीय ३

अपनी ओर से ५

भूमिका ७

१

देशभक्ति विभूति

प्रथम आह्निक (सुखकी विवेचना)—सुख क्या पदार्थ है—सुख के भेद—सुख के साधन। १–४

द्वितीय आह्निक (देशभक्ति विभूतियोंका प्रतिपादन)—जातिगत हितकी उपेक्षा करके व्यक्तिगत हितसाधन में लगे रहने से सुखका दुर्लभ होना;—इस सिद्धान्तका प्रमाण वर्तमान भारत—जातिगत हित के लिए व्यक्तिगत हितकी उपेक्षा करनेसे सुखका सुलभ होना;—इस सिद्धान्तका प्रमाण इंग्लिस्तान—जातिगत हितके लिए व्यक्तिगत हितकी उपेक्षाका उपाय—जातिगत हितके लिए व्यक्तिगत हितकी उपेक्षाका नाम 'देशभक्ति'—आधिजौविक औपयोगिक, आमुष्मिक, आध्यात्मिक मतोंसे देशभक्ति की आवश्यकता। ५–११

२

दैशिकधर्म

प्रथम आह्निक (देश शब्दका अर्थ)—'देशभक्ति' शब्दकी उत्पत्ति—देश शब्द के अर्थ—दैशिकशास्त्रानुसार 'देश' शब्दका अर्थ। १२–१४

द्वितीय आह्निक ('जाति' शब्दका अर्थ)—पाश्चात्योंके अनुसार 'जाति' शब्द का अर्थ—हमारे आचार्यों के अनुसार 'जाति' शब्दका अर्थ। जाति के दो तत्त्व 'चिति' और विराट्—भिन्न भिन्न प्रकार की जातियां और उनकी विशेषता। १५–२५

तृतीय आह्निक (दैशिकधर्म का अर्थ)—देशहित की इच्छा दैशिक धर्म नहीं—देश हितके लिए काम करना दैशिक धर्म—दैशिक धर्म उच्च कोटि का कर्मयोग—दैशिक धर्म के लिए चित्ति प्रकाश और दैशिक शास्त्रकी आवश्यकता—हमारे दैशिकशास्त्र की श्रेष्ठता। २६–३०

३

स्वतन्त्रता

प्रथम आह्निक (स्वतन्त्रता का अर्थ)—बड़े कामों के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता—स्वतन्त्रता का अर्थ—मानवी स्वतन्त्रता के तीन अङ्ग । ३१–३४

द्वितीय आह्निक (शासनिक स्वतन्त्रता)—हमारे आचार्यों के अनुसार शासनिक स्वतन्त्रता का उपाय—यूरपमें प्लेटोके सिद्धान्तका दुरुपयोग—शासनिक परतन्त्रताके हेतु–शासनिक स्वतन्त्रताके हेतु । ३४-३८

तृतीय आह्निक (आर्थिक स्वतन्त्रता)—अर्थ की परिभाषा—अर्थ का मानवी स्वतन्त्रता के लिए तीन प्रकार से प्रतिधाती होना–अभावज परतन्त्रताके हेतु–साङ्गिक परतन्त्रताके हेतु—नैसर्गिक परतन्त्रताके हेतु—तीन प्रकार की आर्थिक स्वतन्त्रता और उसके हेतु । ३८–४८

चतुर्थ आह्निक (स्वाभाविक स्वतन्त्रता)–अस्वाभाविक परतन्त्रत का अर्थ—अस्वाभाविक परतन्त्रता के तीन भेद—इन तीन प्रकारकी परतन्त्रता से सत्वह्रासका सम्बन्ध—अस्मिता जन्य परतन्त्रता के हेतु—परजन्य परतन्त्रता के हेतु—समाजजन्य परतन्त्रता के हेतु—स्वाभाविक स्वतन्त्रता का अर्थ—उसके तीन भेद—उक्त तीन प्रकार की स्वतन्त्रताओंके हेतु । ४८–५३

पञ्चम आह्निक (यूरपीय स्वतन्त्रता)—अरिष्टॉटल के अनुसार स्वतन्त्रता के तत्त्व—स्वतन्त्रता के इन तत्त्वों की आलोचना—अंग्रेजी दैशिकशास्त्र के अनुसार स्वतन्त्रता—फौन ट्राइचे के मतानुसार स्वतन्त्रता का तत्त्व । ५४–५८

४

विराडध्याय

प्रथम आह्निक (राज्यविभाग)—राज्यकी उत्पत्ति और उसका उद्देश्य—राज्य का अर्थ–राज्य के दो मुख्य भेद स्वराज्य और परराज्य–स्वराज के दश मुख्य भेद—परराज्य के मुख्य चार भेद—परतन्त्र राष्ट्र के चार भेद—सबसे श्रेष्ठ और सबसे निकृष्ट

राज्य की मीमांसा—द्वन्द राज्य और उसके मुख्य तीन भेद—अरिष्टॉटल के अनुसार ६ प्रकारके राज्य—इन दिनोंके राज्य। ५६–८३

द्वितीय आह्निक (वर्णाश्रम विभाग)--धर्मका अर्थ—धर्म को समष्टिगत बनानेका उपाय वर्णाश्रम धर्म—वर्णाश्रम धर्म से अनेक प्रकारके सामाजिक हित साधन--प्लेटो के रिपब्लिक और अरिष्टॉटल के पौलिटिक्स मे वर्णाश्रम धर्म कीं छाया। ८४–६६

तृतीय आह्निक (अर्थायाम)—धनके अभाव और प्रभाव दोनों से धर्म का नाश होना और समाज में उनका दुष्परिणाम—धनके अभाव और प्रभाव दोनोंको रोकने का नाम अर्थायाम—अर्थायाम के साधनोपाय—अर्थायाम के विषय अरिष्टॉटल और प्लेटोका मत—अर्थायाम के अभाव के कारण पाश्चात्य समाजोंकी दुर्दशा। ६६--११२

चतुर्थ आह्निक (व्यवस्था धर्म)—व्यवस्था धर्म का अर्थ और उसको आवश्यकता—व्यवस्था धर्म का तत्त्व और उसको चलाने के उपाय-हमारे व्यवस्था धर्म का उद्देश्य, उपनय, मूल और विशेषता—हमारे व्यवस्था धर्म और अंग्रेजी कानूनों में भेद। ११२–१२१

पञ्चम आह्निक (देशकाल-विभाग)—देश काल विभाग की आवश्यकता—गुणशास्त्रानुसार देश विभाग—ज्योतिषशास्त्रानुसार काल-विभाग। १२१—१२६

५

दैवी सम्पद् योगक्षेम

प्रथम आह्निक (अधिजनन)—राज्य और समाजको श्रेष्ठ बनानेके लिए शासक और लोगों के दैवी सम्पद् युक्त होने की आवश्यकता —दैवी सम्पद् युक्त होने के लिये संस्कारों के उच्च होने की आवश्यकता —संस्कार चार प्रकार के और उनके नियम—उक्त संस्कार और नियमों के आधार पर हमारा अधिजननिक शास्त्र से और उसके मुख्य सिद्धान्त—हमारे आधिजननिक शास्त्र से पाश्चात्य बायालोजी और युजिनिक्सका मतैक्य। १२७–१३८

द्वितीय आह्निक (अध्यापन)—उत्तम संस्कार युक्त मनुष्यों को पूर्णतया श्रेष्ठ बनानेके लिए उत्तम अध्यापन की आवश्यकता—अध्यापनका अर्थ—अध्यापन काल के तीन भाग–बालशिक्षाकाल, माध्यमिक शिक्षाकाल, सामावर्तिक शिक्षाकाल,—बाल शिक्षाशैली—माध्यमिक शिक्षाशैली—सामावर्तिक शिक्षाशैली—स्त्रीशिक्षा—लोकमत परिष्कार की आवश्यकता। १३८—१४६

तृतीय आह्निक (अधिलवन)—जातियोंके उदयावपात के नियम—जातियोंको हरीभरी रखनेके लिये जातीय लवनकी आवश्यकता—जातीय लवन का अर्थ—जातीय लवन के तीन अंग—बालब्रह्मचर्य, वानप्रस्थप्रथा और युद्ध। १४६—१५१

उपसंहार—दिशा बोध—गिरिराज शाह १५२–१५४

दैशिक शास्त्र

देशभक्ति-विभूतिकाध्याय

प्रथम आह्निक

सुख की विवेचना

जिस यूरोप ने समस्त भूमण्डल में अखण्ड शान्ति फैलाने का बीड़ा उठाया था उसीने क्यों सारे संसार में घोर अशान्ति फैली दी ? जो भारत दिग्विजय का बड़ा प्रेमी था क्यों आज वह निस्तब्ध और निश्चेष्ट विराजमान है ? जो यूरोप एक गाल के बदले दूसरे गाल फेरने का उपदेश दिया करता था क्यों आज वहीं निःशस्त्र लोगों पर गोली बरसा रहा है ? जिस भारत का मंत्र "**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**" था क्यों आज वही शान्ति का सहारा ले रहा है ? जो इंगलिस्तान जर्मनी को भाई कहा करता था क्यों वह उसी जर्मनी को नष्ट करने के लिए अपने शत्रु रूस से जा मिला और फिर क्यों वही इंग्लिस्तान रूस के विरुद्ध तलवार खींचने लगा ? जिस फ्रांस ने राजा लूई को सिंहासन से उतारा फिर क्यों उसीने नेपोलियन के आगे मस्तक नमाया ? जो दुर्योधन पाण्डवों को सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं देना चाहता था क्यों उसीने कर्ण को सारा अंग देश दे दिया ? जो मारीच रामचन्द्रजी को शत्रु समझता था क्यों वह यह कहने लगा :

"मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन ॥"

ये विपरीत बातें सुख के लिए हुईं । जब तक मनुष्य को किसी काम में सुख मिलता है तभी तक वह उसको करता है तदुपरान्त वह उसको त्याग देता है । प्राणी जो कुछ करता है सब सुख की इच्छा से करता है, उसकी समस्त चेष्टाएँ उसी के लिए हुआ करती हैं, इसीके लिए कोई गिरि-गह्वरों में समाधि का अभ्यास किया करते हैं और कोई रणक्षेत्र में वीर शय्या को प्राप्त करते हैं । इसीके लिए कोई देश-भक्ति के रंग में रँग कर अपना सर्वस्व खो देते हैं, और कोई थोड़े स्वार्थ के वशीभूत

होकर अपने देश का सर्वनाश कर देते हैं, इसी के लिए मकदन का मैदान रूसी और जापानी वीरों के रुधिर से रँग गया, इसी लिए बेलजियम के लाल खाक में मिल गये। भिन्न-भिन्न भावना ले कर भिन्न-भिन्न मार्गों से सब उसी सुख रूपी प्रियतम को मिलने जा रहे हैं।

अब मीमांसा इस बात की है कि सुख क्या पदार्थ है। इस विषय में अनेक मत पाये जाते हैं, इन सब में विचारास्पद केवल हमारे आचार्यों का मत है। इस मत के अनुसार सुख दो प्रकार का होता है, एक पाशव और दूसरा मानव।

तत्काल आहार, निद्रा, मैथुन आदि से जो अनुकूल वेदना उपस्थित होती है उस को पाशव सुख कहते हैं। इस सुख में पशु और पशुओं की विशेषता रखने वाले मनुष्य रमते हैं, यह सुख क्षणिक होता है और इसकी रति से मनुष्य का अधःपतन होता चला जाता है।

स्वलक्ष्य सिद्धि से जो अनुकूल वेदना होती है उस को मानव सुख कहते हैं। इस सुख में मनुष्य और मनुष्यों की विशेषता रखने वाले प्राणी रमते हैं; यह सुख चिर-स्थायी होता है और इसकी रति से मनुष्य को उन्नति होती चली जाती है।

मनुष्य और पशु में भेद केवल यही है कि मनुष्य का कुछ न कुछ लक्ष्य होता है किन्तु पशु का कुछ लक्ष्य नहीं होता। लक्ष्य ही मनुष्य में मनुष्यत्व समझा जाता है, लक्ष्य ही मनुष्य को पशुओं से अलग करता है, लक्ष्यहीन मनुष्य पशु समझा जाता है, लक्ष्यहीन होना मनुष्य के लिए अधःपतन की पराकाष्ठा समझी जाती है, लक्ष्यहीन मनुष्य के सुधरने की कोई आशा नहीं हो सकती है, वह एक प्रकार से मनुष्यत्व से भ्रष्ट हो जाता है। जैसा मनुष्य का लक्ष्य होता है वैसा ही वह आप भी होता है। उत्तम लक्ष्य से मनुष्य उत्तम, मध्यम लक्ष्य से मध्यम, अधम लक्ष्य से अधम, और लक्ष्यहीन होने से वह पशुप्राय हो कर पाशव सुख में रमने लगता है, आहार, निद्रा, मैथुन के लिए ही प्राण धारण करने लगता है, इसीलिए उसकी समस्त चेष्टाएँ होने लगती हैं। किन्तु मनुष्य प्राण धारण करता है अपने लक्ष्य साधन के लिए और प्राण धारण के लिए ही वह आहार करता है, यदि निराहार रहने से उसका लक्ष्य सिद्ध होता है तो वह आहार करना तुरन्त त्याग देता है, लक्ष्य सिद्धि के लिए आहार को ही क्या वह प्राणों को भी त्यागने को सन्नद्ध रहता है। उग्र से उग्र और कठिन से कठिन कर्म मनुष्य लक्ष्यसिद्धि के लिए ही किया करता है, इसी के हेतु उस की सारी प्रवृत्ति हुआ करती है; अपनी लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में ज्यों-ज्यों स्वलक्ष्य सिद्धि उसको समीप दिखाई देने लगती है, त्यों-त्यों उस के सुख की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और जब तक उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं हो जाता है तब तक वह पूर्णतया सुखी नहीं हो सकता है। लक्ष्य सिद्ध हो जाने पर वह कृतार्थ हो जाता है, उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती है।

लक्ष्य तीन प्रकार का होता है:—१. सात्विक, २. राजसिक और ३. तामसिक।

बुद्धि ग्राह्य लक्ष्य सात्विक होता है।

इन्द्रिय ग्राह्य लक्ष्य राजस् होता है।

प्रमाद ग्राह्य लक्ष्य तामस होता है।

इसी के अनुसार सुख भी तीन प्रकार का होता है:—१. सात्विक, २ .राजस, और ३. तामस।

जो सुख बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है वह सात्विक कहा जाता है; वह आरम्भ में विष के समान और परिणाम में अमृत तुल्य होता है।

जो सुख इन्द्रिय और उसके विषयों के संयोग से प्राप्त होता है वह राजस कहा जाता है; वह आरम्भ में अमृत के समान परन्तु परिणाम में विष के तुल्य होता है।

जो सुख प्रमाद से उत्पन्न होता है वह तामस कहा जाता है; वह आरम्भ में और परिणाम में भी मोहकर होता है।

मानव सुख-साधन के लिए चार बातें मुख्य रूप से आवश्यक होती हैं:—(१) सुसाध्य आजीविका, (२) शान्ति, (३) स्वतन्त्रता और (४) पौरुष। इनका अभाव अर्थात् कष्टसाध्य आजीविका, चिन्ता, परतन्त्रता और क्लैब्य मानव सुख के मुख्य विघ्न होते हैं। क्योंकि कष्टसाध्य आजीविका से मनुष्य सदा जीवन-यात्रा के गोरख-धन्धों में उलझा रहता है, इसी में उसका सारा समय चला जाता है; चिन्ता से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है; परतन्त्रता से वह असमर्थ हो जाता है; क्लैब्य से वह निरुत्साह हो जाता है। यह सिद्ध है कि समयहीन, बुद्धिहीन, सामर्थ्यहीन, और उत्साहहीन मनुष्य का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् उसको सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

जिस मनुष्य को भोजन के लिए सारे दिन हड्डी तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, जिसको सदा चिन्ता लगी रहती है, जो परतन्त्र और पौरुषहीन हो जाता है उसको पाशव सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि आहार, निद्रा, मैथुन आदि से अनुकूल वेदना तभी प्राप्त होती है कि जब वे अल्प परिश्रम से शान्ति और स्वतन्त्रता-पूर्वक प्राप्त होवें और इसी प्रकार भोगे भी जा सकें।

किन्तु सुसाध्य आजीविका, शान्ति, स्वतन्त्रता और पौरुष जब तक समाज में समष्टिगत नहीं होते हैं तब तक वे एक सङ्ग व्यक्तिगत भी नहीं होते हैं और यदि दैवात् हो भी गये तो वे फलीभूत और चिरस्थायी नहीं होते हैं। अङ्गी में प्राण के समष्टिगत न होने से जो दशा अङ्ग की होती है, वृक्ष में रस के समष्टिगत न होने से जो दशा पत्र की होती है, वही दशा समाज में सुसाध्य आजीविका आदि के

समष्टिगत न होने से व्यक्ति की भी होती है, क्योंकि सामाजिक जीव होने से मनुष्य का अपने समाज से वही सम्बन्ध होता है, जो अङ्ग का अपने अङ्गी से और पत्र का अपने वृक्ष से होता है। अतः गायत्री आदि वेद मन्त्रों में जब सविता आदि देवताओं से कुछ अभीष्ट पदार्थ माँगा गया तो वह समष्टि के लिए ही माँगा गया।

इस आह्निक में विचारास्पद बातें ये हैं :—

१. मनुष्य की सारी प्रवृत्ति केवल सुख के लिए है।

२. सुख दो प्रकार का होता है:—(१) पाशव और (२) मानव।

३. आहार, निद्रा, मैथुन आदि से जो अनुकूल वेदना होती है वह पाशव सुख कहा जाता है।

४. स्वलक्ष्य सिद्धि से जो अनुकूल वेदना होती है वह मानव सुख कहा जाता है।

५. मानव सुख भी तीन प्रकार का होता है:—(१) सात्विक, (२) राजस और (३) तामस।

६. जो सुख बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है वह सात्विक कहा जाता है।

जो सुख इन्द्रिय और उन के विषयों के संयोग से प्राप्त होता है वह राजस कहा जाता है।

जो सुख प्रमाद से होता है वह तामस कहा जाता है।

७. मानव सुख के लिए चार बातें आवश्यक होती हैं:—(१) सुसाध्य आजीविका, (२) शान्ति, (३) स्वतन्त्रता और (४) पौरुष।

८. पाशव-सुख के लिए भी उक्त चार बातें आवश्यक होती हैं।

९. जब तक उक्त चार बातें समाज में समष्टिगत नहीं होती हैं तब तक वे व्यक्ति को भी प्राप्त नहीं होती हैं, और यदि दैवात् हुई भी तो वे फलीभूत और चिरस्थायी नहीं होती हैं।

इति दैशिकशास्त्रे देशभक्तिविभूतिकाध्याये सुखविवेचनो
नाम प्रथमाह्निकः।

———

द्वितीय आह्निक

देशभक्ति विभूतियों का प्रतिपादन

प्रथम आह्निक में यह कहा गया है कि सुसाध्य आजीविका, शान्ति, स्वतन्त्रता, और पौरुष के समष्टिगत हुए बिना समाज में कोई सुखी नहीं हो सकता है। किन्तु सुसाध्य आजीविका आदिक मनुष्यों के व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करके जातिगत हित में लगे बिना समष्टिगत नहीं हो सकते हैं। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है भारत। यह प्रत्यक्ष है कि इन दिनों सुजला, सुफला, शस्यश्यामला भारत भूमि की सन्तानों को अन्न कष्ट हो रहा है, आज माई अन्नपूर्णा के प्रिय प्रमोद कानन इस भारत में उदरपूर्ति परम पौरुष समझा जाने लगा है, आज वसुमती बुद्धिमती इस भूमि का मुखारविंद चिन्तारूपी तुषार लेखा से आकुलित हो रहा है, आज रत्नाकर-मेखला, हिमगिरि-मुकुटा इस भूमि को आत्मनिर्भरता के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं, आज अध्यात्मदक्षा वीरजननी इस भूमि में महादैन्य छाया हुआ है, साहित्य-घनाग्रगामी इस भारत की साहित्यरूपी मान-पताका उसी की सन्तानों के हाथों उखाड़ी जा रही है, आज उसकी कीर्तिरूपी उज्ज्वल कौमुदी अस्ताचल चूडावलम्बिनी हो रही है, आज भारत-सन्तानों में सब को किसी न किसी प्रकार का दुःख, किसी न किसी प्रकार की चिन्ता लगी हुई है, चाहे उनमें कोई मुकुटधारी हो अथवा कन्थाधारी, चाहे कोई विद्यावारिधि हो अथवा अनक्षरभट्टाचार्य, चाहे कोई योगी हो अथवा भोगी। भूपतियों को चाहे अन्न-कष्ट न हो किन्तु उनको आत्मरक्षा व कर-भार का महा दुःख व दारुण चिन्ता है जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता है। निर्धनों को चाहे राजा-महाराजाओं का सा दुःख न हो किन्तु पापी पेट सदा उनके होश उड़ाए रहता है, विद्वानों का विद्याविलास और मूर्खों की अविद्या की लोरियां तभी तक हैं कि जब तक पेट भरा हुआ और शरीर ढका हुआ है; योगियों का योग और भोगियों का भोग भी तभी तक है जब तक समाज में अन्न सुलभ और आहार-विहार स्वच्छन्द हैं। मध्यस्थवृत्ति वाली भारत-सन्तान भी सुखी नहीं है क्योंकि इन दिनों उनके लिए आजीविका के प्रायः सभी द्वार बन्द हैं, केवल एक द्वार सेवावृत्ति का खुला हुआ है जिससे वे जनमेजय के होताओं के मन्त्रों से मुग्ध हुए सर्पों के समान बलात् परतन्त्रता में पड़ रहे हैं। इस द्वार से प्रवेश करने के अतिरिक्त और उनको किसी बात की इच्छा ही नहीं है, प्रवेश हो जाने पर भी उनको किसी काम के लिए समय मिलना कठिन हो जाता है, इस वृत्ति में वे ऐसे उलझ जाते हैं कि इसके अतिरिक्त उनका और कोई लक्ष्य रहता ही

नहीं, क्रमशः वे लक्ष्यहीन हो जाते हैं। यही नहीं, वरन् उनका आहार-विहार भी स्वच्छन्द नहीं रहता, धैर्य्य से भोजन करना और सुख से सोना उनको दुर्लभ हो जाता है; अर्थात् मानव सुख तो रहा एक ओर, पाशवसुख भी उनको दुर्लभ हो जाता है। चाहे किसी झरोखे से देखिए भारत में सर्वत्र एक ही दशा है, प्रायः सबकी आजीविका कष्टसाध्य है, सबको किसी न किसी प्रकार की चिन्ता है, कोई स्वतन्त्र नहीं है, जैसे सभी पौरुषहीन हो गये हैं।

किन्तु भारत में अब भी वही उपजाऊ भूमि है, वही अनुकूल जलवायु है, पूर्व और पश्चिम में वही अगाध समुद्र है, उत्तर में है वही गिरिराज हिमालय :

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं
मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।

भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च
पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥

तो क्या कारण है कि इन दिनों भारत-सन्तानों को ऐसा घोर अन्न कष्ट हो रहा है? क्यों सुख उनसे ऐसा रूठा हुआ है?

क्या इसका कारण यह है कि वे लोग बुद्धिहीन हैं? वर्तमान यूरोप के गुरु यूनान ने जिस देश से शिक्षा पाई उसकी सन्तानें मूर्ख हो नहीं सकतीं।

तो आलसी हैं? जिनके श्रमोपार्जित अन्न से देश-देशान्तरों का पालन हो रहा है, जिनके पसीने से विभिन्न देशों में अनेक कारखाने चल रहे हैं, वे आलसी नहीं हो सकते।

तो क्या वे विलासी और अतिव्ययी हैं? दो रुपये रोज जिनकी औसत आय है, जो सौ-पचास रुपये माहवार में अपना कुटुम्ब पालन कर लेते हैं, दो-ढाई सौ रुपये की बाबूगिरी के लिए जिनकी लार टपकती है, यह क्या है जिनके लिए कुबेर का भण्डार समझा जाता है। यद्यपि आज कुछ स्थिति सुधरी है परन्तु फिर भी इस राशि से उनमें विलास और अतिव्यय कहाँ तक हो सकता है।

तो क्या वे भीरु हैं? जिस जाति में अनन्त कर्ण और अनेक अभिमन्यु उत्पन्न हुए हैं, जिस जाति का केसरी बाना अब तक प्रसिद्ध है, जो जाति एकान्त विध्वंसी इस शरीर को तुच्छ समझती है वह भीरु हो नहीं सकती।

यह नहीं, वह नहीं; तो क्या कारण है कि अन्नपूर्णा की विहारभूमि, श्री सरस्वती के प्रमोद कानन, वीरता के रंगस्थल इस भारत में सुख को क्षयरोग हो चला है? इसका कारण है **भारत-संतानों का देशहित की उपेक्षा करके व्यक्तिगत हित-साधन में लगा रहना। समस्त** गुणराशि-नाशी इस एक दोष ने भारत के अनन्त गुणों को धूल में मिला दिया।

इसके विपरीत गुण से अर्थात् व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करके देशहित में लगे रहने से यूरोप आज समृद्ध हो गया है, जो यूरोप सदा नीहारमग्न रहता है, जहाँ सूर्य देवता के दर्शन प्रायः दुर्लभ होते हैं; आज माँ अन्नपूर्णा उसके द्वार पर हाथ जोड़े खड़ी हैं। जो यूरोप भारत की सम्पत्ति का अनुमान नहीं कर सकता था, इसी गुण के कारण आज उसके हाथ में भारत की निःशेष अर्थ-व्यवस्था की कुंजी है; जिस यूरोप के बड़े-बड़े लोगों को वे ऐश्वर्य प्राप्त नहीं थे जिनको भारत का एक साधारण मनुष्य भोगा करता था, आज उसी यूरोप का एक साधारण मनुष्य उन भोगों को भोग रहा है जो भारत के राजा-नव्वाबों को दुर्लभ हैं; जो यूरोप जीवन की मीमांसा में सदा माथा पचाया करता था आज सुख उसका अनुचर बना हुआ है, ऐश्वर्य्य उसकी टहल कर रहा है; जिस अमेरिका को कोई नहीं जानता था, आज उसकी कीर्ति से दिशाएँ देदीप्यमान हो रही हैं; जो यूरोप वाणिज्य के लिए देश-देशान्तर में मारा-मारा फिरा करता था आज देश-देशान्तर के महीपालों की मुकुटमणियों से उसके चरणारविन्द जगमगा रहे हैं; जिस यूरोप को दिल्लीपति के दर्शनों की अभिलाषा थी, उक्त गुण के कारण वह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और एक लम्बी लड़ाई के पश्चात् ही उसे अपदस्थ किया जा सका।

ऊपर कही हुई जो बात भारत और यूरोप के इतिहास से सिद्ध होती है वही संसार के समस्त देशों के इतिहास से भी सिद्ध होती है, चाहे किसी समय का किसी देश का इतिहास लीजिए सबसे यही सिद्ध होता है कि देशगत हित के लिए व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करने से ही देश समृद्ध होता है और इसके विपरीत गुण से देश में सुख का ह्रास हो जाता है।

अब मीमांसा इस बात की है कि मनुष्य में जातिगत एवम् देशगत हित के लिए व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करने की सुबुद्धि कैसे उत्पन्न होती है और कैसे उस सुबुद्धि में उसकी स्थिति होती है। यह होता है चिति के प्रकाश और विराट् की जागृति से। चितिप्रकाश और विराट्जागृति का अर्थ इस समय यह समझ लेना चाहिए कि किसी नित्य ओजस्वी और जातिगत तथा देशगत अर्थ का प्राधान्य में आना।

किसी नित्य अर्थ के प्राधान्य में लाने से मनुष्य सदा उसी के साधन में लगा रहता है, उस नित्य अर्थ के ओजस्वी होने से मनुष्य स्वभावतः अपने क्षुद्र अर्थों की सदा उपेक्षा किया करता है, उस नित्य और ओजस्वी अर्थ के जातिगत होने से मनुष्य जातिगत हित के लिए व्यक्तिगत हित की सदा उपेक्षा किया करता है।

देशहित के लिए जातिगत एवम् व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करना भारत की आधुनिक भाषाओं में देशभक्ति कहा जाता है। अतः दैशिकशास्त्र के अद्वितीय आचार्य्य

प्राचीन भारत का उक्त सिद्धान्त देशिकशास्त्र मूर्खमानी अर्वाचीन भारत की भाषा में यों कहा जा सकता है कि देशभक्ति के बिना मनुष्य सुखी नहीं हो सकता है। देशभक्ति विभूति का प्रतिपादन ऐतिहासिक पक्ष से हो चुका है।

आधिजीविक पक्ष से भी मनुष्य के लिए देशभक्ति की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि सामाजिक जीवन होने से मनुष्य का अपनी जाति से वही सम्बन्ध होता है जो किसी इन्द्रिय आदि का अपने शरीर से, अथवा किसी पत्र आदि का अपने वृक्ष से, किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय आदिकों को अपने शरीर के लिए कुछ न कुछ काम करना पड़ता है और जब तक वे अपने शरीर के लिए अपने काम को करते जाते हैं तब तक शरीर निरामय रहता है जिससे सब इन्द्रियाँ आदि सुखी रहती हैं; और जब वे अपने कर्तव्य से मुख मोड़ कर स्वार्थ में रमने लगते हैं तो शरीर में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होने लगती हैं जिससे उनका अवपात होने लगता है। इसी प्रकार प्रत्येक पत्र आदिकों को भी अपने वृक्ष के लिए कुछ न कुछ काम करना पड़ता है और जब तक वे अपने वृक्ष के लिए अपना काम करते रहते हैं तबतक वह सारा वृक्ष हरा भरा रहता है, और जब वे स्वकर्त्तव्यच्युत होने लगते हैं तो वे सूखने अथवा सड़ने लगते हैं। मनुष्यों को भी अपनी जाति के लिए कुछ न कुछ करना पड़ता है और जब तक वे अपनी जाति के लिए अपना कर्त्तव्य पालन करते जाते हैं तब तक उनकी जाति का श्रेयस् होता जाता है, जिससे व्यक्ति सदा सुखी रहते हैं और जब वे अपने जातिधर्म से भ्रष्ट होकर स्वार्थसाधन करने लगते हैं तब उनका सब प्रकार से अधःपतन होने लगता है।

मनुष्य के समान अनेक पशु और कीट भी सामाजिक हैं; इनमें जो सामाजिक नियम बरता जाता है वही मनुष्यों के लिए प्राकृतिक नियम समझा जाना चाहिए; क्योंकि प्रकृति के नियमों को पशु और कीट मनुष्यों की अपेक्षा ठीक-ठीक समझते हैं। इन सामाजिक तिर्यगों में सबसे अधिक परिचय हमारा मधुकरों से है, जिनमें सदा यह देखा जाता है कि उनको अपने समाज के हित के अतिरिक्त और किसी बात का ध्यान रहता ही नहीं, प्रत्येक मधुकर अपनी बलबुद्धि के अनुसार सदा अपने समाज के हित साधन में लगा रहता है; कोई मोम का सञ्चय करता है, कोई केशर की ढूंढ में मारा फिरता है, कोई करण्ड बनाने को व्यग्र रहता है, कोई उनमें मधु भरता है, कोई कोष की रक्षा किया करता है; एवं सब किसी न किसी सामाजिक कर्म को करने में तल्लीन रहते हैं। चींटियों में भी यह बात पाई जाती है विशेषतः उस समय जब दो भिन्न जातियों की चींटियों में युद्ध हो जाता है। अन्य सामाजिक पशुओं में भी यह नियम देखा जाता है। अतः आधिजीविक रूप से सिद्ध होता है कि मनुष्यों के लिए देशभक्ति परम आवश्यक कर्म है।

औपयोगिक पक्ष से भी देश-भक्ति उपकाराधिक्य का सुगम और सरल मार्ग है; देशभक्ति से जो सुख प्राप्त होता है वह और किसी प्रकार नहीं होता है क्योंकि देशभक्ति का उद्देश्य ही समष्टिहित-साधन है। बहुत गोदानों की अपेक्षा एक ऐसा काम अधिक उपयोगी और श्रेयस्कर होता है जिससे गायें सुलभ और सुपालनीय हों, जैसे बहुत स्कूल और कालेजों की अपेक्षा एक ऐसा काम कि जिससे लोगों का दैन्य और अज्ञान चला जाय अधिक हितकर होता है; जैसे भिन्न-भिन्न खेतों की सिंचाई के लिए अलग-अलग घड़ों से पानी लाने की अपेक्षा एक साथ सबकी सिंचाई के लिए एक नहर लाना बहुत उपयोगी होता है, एवं छोटे-छोटे परोपकार के कामों की अपेक्षा एक देशभक्ति अनेकधा श्रेयस्करी होती है।

आमुष्मिक पक्ष में भी देशभक्ति परम पुण्य कर्म समझा जाता है क्योंकि अभी यह कहा गया है कि देशभक्ति का उद्देश्य है देशगत सुख, किन्तु जो काम बहुजन हिताय बहुजन सुखाय किया जाता है उससे कर्त्ता बहुत दिनों तक स्वर्ग में रहता है। जिस कर्म से जितने अधिक प्राणियों का उपकार होता है उतने अधिक दिनों तक कर्त्ता स्वर्ग में रहता है।

अपरञ्च कहा जाता है कि "अन्ते या मतिः सा गतिः" अर्थात् मनुष्यों के चित्त में मरण काल में जैसे संस्कार होते हैं वैसी उनकी गति होती है और यह स्वाभाविक है कि मरणकाल में देशभक्त के हृदय में वीर संस्कार होते है, हमारे आचार्यों के अनुसार मरणकाल के वीर संस्कार अत्युत्तम समझे जाते हैं, ऐसे उत्तम कि अन्धमुनि ने अपने प्यारे श्रवण को अन्तिम विदाई देते समय यही आशीर्वाद दिया—

यां हि शूरा गतिं यान्ति सङ्ग्रामेष्वनिवर्तिनः।
हतास्त्वमभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज॥

किन्तु जो महात्मा संसार को असार, ममता को माया, विषय सुखों को तुच्छ, स्वर्ग को अनित्य समझते हैं, जिन्होंने अपने सच्चिदानन्द रूप में विराजमान होने का सङ्कल्प कर लिया है उनको देश-भक्ति से क्या लाभ हो सकता है? ऐसे त्यागी मुमुक्ष जनों को देश-भक्ति की अधिकतर आवश्यकता होती है, क्योंकि देशभक्ति राग क्षीण और सत्व विकास करने की सुऔषधि, मनुष्य को आत्मज्ञान का अधिकारी बनाने की युक्ति, मोक्ष का द्वार खोलने की कुञ्जी है; देशभक्ति के बिना कैवल्य यदि जन्मजन्मान्तरों में प्राप्त होगा तो तीव्र देश-भक्ति से वह एक ही जन्म में प्राप्त हो सकता है। क्योंकि कैवल्य पद प्राप्त होता है केवल आत्मज्ञान से, आत्मज्ञान प्राप्त होता है योगाभ्यास से, किन्तु योग बड़ा ही कठिन काम है,

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥"

छुरे की धार के समान कठिन इस योग मार्ग में बिना चित्त-शुद्धि के चला नहीं जाता, चित्त-शुद्धि होती है सत्व विकाश से, सत्व विकाश होता है रजोगुण के दूर होने से, किन्तु रजोगुण दबाने से दबता नहीं है, कर्म करने से वह क्षीण किया जा सकता है।

अब विचारास्पद यह है कि कर्म तो सभी करते हैं, बिना कर्म किये कोई रहता ही नहीं, तो सबके चित्त का रजोगुण क्षीण क्यों नहीं हो जाता; कारण क्षीण न होने का यह है कि साधारण कर्मों के करने से रजोगुण क्षीण नहीं होता है वरन् वह बढ़ता जाता है; वह क्षीण होता है ऐसे कर्मों के करने से जिनमें ओजस् त्याग और विवेक का संग होता है; ओजस्वी कर्मों को करने के लिए स्वभावतः रजोगुण की आवश्यकता होती है, जिस काम में जितना ओजस् होता है उसमें उतनी रजोगुण की आवश्यकता होती है, अतः ओजस्वी कर्मों के करने से व्यक्ताव्यक्त रूप से चित्त में वर्तमान रजोगुण उमड़ कर एकत्र हो जाता है, त्याग से चित्त में तृष्णा और संग उत्पन्न होने नहीं पाते, तृष्णा और संग के न होने से चित्त में संस्कार पड़ने नहीं पाते, चित्त में संस्कारों के न पड़ सकने के कारण रजोगुण निराधार होकर क्षीण हो जाता है; अतः ओज और त्याग का संग होने से रजोगुण उमड़ कर क्षीण हो जाता है। रजोगुण के क्षीण होने से सत्व और तमस् दोनों को उदय होने का अवसर मिलता है किन्तु विवेक का अभ्यास करने से ज्ञान नाड़ियाँ जाग्रत् होती जाती हैं जिससे सत्व प्रबल होता है, सत्व के प्रबल होने से तमोगुण का उदय नहीं हो सकता; अतः किसी कार्य्य में ओज, त्याग और विवेक का संग होने से रजोगुण का क्षय होकर सत्व का विकाश होता है। कर्म इस संसार में असंख्य प्रकार के होते हैं, किन्तु किसी में ओजस् की कमी होती है, किसी में त्याग की, किसी में विवेक की, किसी में दो की, किसी में तीनों की। ढूंढते-ढूंढते यदि ऐसा कोई कर्म मिल भी जाय कि जिसमें उक्त तीनों बातें हों तो नीरस होने से उसकी ओर मनुष्य की प्रवृत्ति होना कठिन हो जाता है, देशभक्ति ही एक ऐसा कर्म है कि जिसमें उक्त तीनों बातों की यथेष्ट मात्रा रहती है और सरस होने से जिसकी ओर मनुष्य की प्रवृत्ति अनायास हो जाती है।

अपरञ्च अध्यात्म मार्ग में जिस परवैराग्य की आवश्यकता होती है वह अरुन्धतीदर्शन न्याय से किये हुए दीर्घाभ्यास के बिना प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् परमवैराग्य को प्राप्त करने के लिए प्रथम व्यक्तिगत स्वार्थ से मन को हटाकर जातिगत एवम् देशगत हित में लगाना चाहिए, फिर उसको जातिगत स्वार्थ से हटाकर लोकोपकार में लगाना चाहिए, फिर उसको लोक से हटाकर आत्मा में लगाना चाहिए। परवैराग्य को प्राप्त करने के लिए रजोगुण को ऊर्ध्व करना पड़ता है अर्थात् चित्त को एक ऐसे विषय में लगाना पड़ता है कि जिसके स्वाद में मनुष्य

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और विषय-भोगों को भूल जाय, देशभक्ति ही एक ऐसा काम है कि एक बार जिसका रसास्वादन होने पर मनुष्य के चित्त के व्यक्तिगत स्वार्थ और विषय-भोगों की लालसा उड़ जाती है, परवैराग्य रूपी जल के लिए मानों नहर खुद जाती है।

अपरञ्च सच्चे देशभक्त को बार-बार लोभ और भय का प्रतिरोध करना पड़ता है। बार-बार ऐसा करने से वह सत्य संकल्प और निश्चयात्मक बुद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसा हो जाने से योग के विघ्नों को हटाते हुए वह अनायास अध्यात्म मार्ग में चला जाता है।

अध्यात्म पक्ष से भी देश-भक्ति की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी। जिस पक्ष से देखिए उसी से देश-भक्ति मनुष्य के लिए कामधेनु जान पड़ती है, वास्तव में इसी देशभक्ति रूपी यज्ञ के लिए ब्रह्मा ने मनुष्य से कहा—

"अनेन प्रसविष्यध्वं एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।"

इति दैशिक-शास्त्रे देशभक्ति विभूतिकाध्याये देशभक्ति-
विभूति प्रतिपादनो नाम द्वितीयाह्निकः।

———

दैशिकधर्म व्याख्यानाध्याय

प्रथम आह्निक

'देश' शब्द का अर्थ

हमारे प्राचीन साहित्य में देश-भक्ति शब्द कहीं भी नहीं पाया जाता है, यह बिलकुल नवीन शब्द है, रचना भी इसकी ऐसी है कि जिसमें विदेशीयता स्पष्ट विदित होती है। जब हमारे देश से हमारी प्राचीन विद्या और साहित्य रूपी भगवान् भास्कर अन्तर्हित हो गये, सर्वत्र अन्धकार छा गया, सहसा अंग्रेजी विद्या और साहित्य रूपी चन्द्रमा का उदय हुआ। लोग आनन्द से फूले न समाये, उस आनन्द में उन को सब दुरितों का नाश करने वाले अपने साहित्य सविता की विस्मृति हो गई, वे अंग्रेजी रंग में रँगने लगे, उन में अंग्रेजी भावों का प्रचार होने लगा, किन्तु अंग्रेजी भाषा का शीघ्र सार्वजनिक प्रचार न हो सकने के कारण शब्दों का सब देशी भाषाओं में अनुवाद होने लगा; अतः हमारी भाषाओं में अनेक नये-नये शब्द बन गये। देश-भक्ति शब्द भी इसी प्रकार के बने हुए शब्दों में से है, यह अंग्रेजी 'पैट्रियटिज्म' शब्द का अनुवाद जान पड़ता है।

किन्तु इस से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारे प्राचीन साहित्य में ऐसा कोई शब्द था ही नहीं। हमारे दैशिकशास्त्र में ऐसे दो शब्द थे, एक 'दैशिकधर्म' और दूसरा 'जाति धर्म'; पहला अब कहीं देखने में नहीं आता, हाँ दूसरा शब्द कहीं-कहीं देखने में आता है, यथा भगवद्गीता में:—

'उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।'

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारी भाषा में ये शब्द थे तो इस पुस्तक के पूर्वाध्याय में इन शब्दों को छोड़ कर देश-भक्ति शब्द क्यों काम में लाया गया? उत्तर इस का यह है कि बिना व्याख्या के इन शब्दों का अर्थ कदाचित् ही कोई समझे, किन्तु देश-भक्ति शब्द को सब समझ लेते हैं; अतः पूर्वाध्याय में देश-भक्ति शब्द काम में लाया गया।

इस पुस्तक में अपने प्राचीन दैशिक-शास्त्र का अनुशासन किया गया है; अतः इस में व्याख्या भी उस शास्त्र में काम में आये हुए दैशिकधर्म और जातिधर्म शब्दों की

होगी। बिना देश और जाति का अर्थ जाने दैशिकधर्म और जातिधर्म का अर्थ समझ में नहीं आ सकता; अतः प्रथम मीमांसा देश और जाति शब्दों के अर्थों की है।

साधारणतः देश शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यह शब्द कहीं स्थान विशेष का अर्थ-द्योतक होता है; यथा—

"केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार"।

कहीं स्थान के लिए काम में आता है; यथा—

"तं देशमारोपितचारुचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने।"

कहीं भाग के लिए; यथाः—

"अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्य नभःप्रदेशाः"

कहीं प्रान्त के लिए; यथाः—

"युधाजितश्च सन्देशात् देशं सिन्धुनामकम्।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः॥"

कहीं राष्ट्र के लिए, यथाः—

"अन्योन्य देश प्रविभाग सीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः॥"

देश शब्द के इन अर्थों में से एक भी दैशिकशास्त्र के अनुसार नहीं है, किन्तु वाल्मीकिरामायण में एक स्थान में देश शब्द इस प्रकार आया हैः—

" गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम्।
" नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
" चातुर्वर्ण्य हितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना।
" नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
" ....
" सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद्ब्रह्मवादिनः।
करिष्यामि न सन्देहः ताटकावधमुत्तमम्॥
गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च॥"

यहाँ निश्चय देश ऐसी भूमि के अर्थ में आया है कि जहाँ गोभक्ति और ब्राह्मण-प्रतिष्ठा हो और जहाँ ब्राह्मणादि चार वर्ण रहते हों, अर्थात् जहाँ आर्य जाति रहती हो। हमारे दैशिकशास्त्र में भी यह शब्द इसी अर्थ में आया है; दिश् से घञ् प्रत्यय लगाने से देश शब्द बनता है; दिशतीति देशः अर्थात् जो भूमि अपनी आश्रित जाति को सूचित करती है वह देश कही जाती है। देश और जाति में समवाय सम्बन्ध

होता है; जैसे विना तन्तुओं के कोई वस्त्र नहीं हो सकता, किन्तु विना वस्त्र के तन्तु होने ही हैं, एवं विना जाति के कोई भूमि देश नहीं कही जाती है किन्तु विना देश के जाति होती ही है। दैशिकशास्त्र के अनुसार देश शब्द का अर्थ होता है पृथ्वी का ऐसा भाग जिस में कोई जाति सन्तान रूप से बसी हुई हो अर्थात् ऐसे सम्बन्ध से कि जो उस भूमि के अतिरिक्त और किसी भूमि से न हो सके। कोई भूमि तब तक देश नहीं कही जा सकती है जब तक उस में किसी जाति का मातृकममत्व, अर्थात् ऐसा ममत्व कि जैसा पुत्र का माता के प्रति होता है, न हो। अतः सहारा मरु के लिए देश शब्द काम में नहीं आ सकता है क्योंकि उस में कोई जाति सन्तान रूप से बसी हुई नहीं है; पृथ्वी के कई अन्य भागों और कई टापुओं में भी हमारे भारतीय लोग रहते हैं, किन्तु ये उन के देश नहीं कहे जाते हैं क्योंकि उन के चित्त में भारत को लौट आने की इच्छा अभी बनी हुई है, अभी भारत से उन का मातृक सम्बन्ध बना हुआ है, जब तक भारत से उन के इस सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो जाता तब तक वे भाग अथवा वे टापू उन के देश नहीं कहे जा सकते, एवं भारत को अंग्रेजों का देश नहीं कहा जा सकता है चाहे राज्य उनका वहाँ हो; क्योंकि वे लोग वहाँ सन्तान रूप से बसे हुए नहीं हैं, जो कोई थोड़े अंग्रेज वहाँ बसे हुए हैं वे भी सन्तान रूप से बसे हुए नहीं हैं, उन के चित्त में इंगलिस्तान को लौट जाने की इच्छा अभी बनी हुई है; यदि भारत के किसी अंश में अंग्रेजों का उपनिवेश हो जाय तो भी भारत का वह अंश तब तक उन का देश नहीं कहा जायगा जब तक वहाँ उपनिविष्ट अंग्रेज लोग इंगलिस्तान से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके वहाँ सन्तान रूप से रहने न लगें और हम लोग उस से अपना संबंध अलग न कर लेवें। यह स्मरण रहना चाहिए कि यदि भारत में उपनिविष्ट अंग्रेज लोग इंगलिस्तान से अपना सम्बन्ध त्याग कर उस उपनिवेश को अपनी मातृभूमि मानने लग जायें और हम लोग भी उस स्थान को अपना देश समझें तो कुछ काल तक अंग्रेजों और हम लोगों में खींचातानी रहेगी, अन्त में एक समय ऐसा आयगा कि या तो वहाँ उपनिविष्ट अंग्रेज लोग अपना जातित्व खोकर हम लोगों में विलीन हो जाएँगे अथवा हम लोग अपना जातित्व खोकर उन अंग्रेजों में विलीन हो जाएँगे, तब जिस जाति का हाथ ऊपर रहेगा वह उस स्थान को अपना देश कह सकेगी। यह भगवती प्रकृति का सनातन नियम है कि एक भूमि दो जातियों का देश नहीं हो सकती, एक जाति को अपना जातित्व खोकर दूसरी में विलीन होना पड़ता है अथवा उस की भोग्य वस्तु होकर रहना पड़ता है।

इति दैशिकशास्त्रे दैशिक धर्मव्याख्यानाध्याये देशविवरणो
नाम प्रथमाह्निकः।

द्वितीय आह्निक

'जाति' शब्द का अर्थ

इस अध्याय के प्रथमाह्निक में देश शब्द का विवरण किया गया था किन्तु बिना जाति शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझे देश शब्द का अर्थ ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकता, अतः इस आह्निक में जाति शब्द का निरूपण किया जायगा।

इन दिनों जाति शब्द का अर्थ अंग्रेजी शब्द 'नेशन' से लिया जाता है और उसी के अनुसार जाति की परिभाषा भी दी जाती है। अतः—

"एक मत एक रीति को मानने वाला, एक भाषा बोलने वाला, एक राज्य के अधीन रहने वाला जन-समुदाय जाति कहा जाता है।"

हमारे दैशिक शास्त्रानुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि:—

१. संस्कार और सन्निकर्ष के अनुसार मनुष्यों की प्रवृत्ति हुआ करती है, प्रवृत्ति के अनुसार रुचि होती है, रुचि के अनुसार मत होता है, किन्तु सब के संस्कार और सन्निकर्ष एक समान नहीं होते; अतः भिन्न-भिन्न मनुष्यों का भिन्न मत होना स्वाभाविक है, किसी को ज्ञान मार्ग, किसी को योग मार्ग, किसी को भक्ति मार्ग, किसी को कर्म मार्ग, किसी को उपासना मार्ग, किसी को और कोई मार्ग अच्छा लगता है, किसी का इष्ट ईश्वर का एकरूप, और किसी को दूसरा रूप होता है। अतः किसी परिष्कृत और उन्नतिशील समाज में सब का मत एक हो नहीं सकता। क्या समस्त अंग्रेजों का वही मत है जो मिल का था? अथवा जो मत शोपनहोर का था, क्या वही समस्त जर्मनों का है? क्या समस्त अमेरिकन अथवा निःशेष फ्रांसीसियों का एक ही मत है? परंतु इस के प्रतिपक्ष कैलास प्रांत के वनचर और असभ्य जंगली लोगों में सब का एक ही मत पाया जाता है। किसी सभ्य समाज के समस्त व्यक्तियों में समष्टि रूप से एक मत का प्रचार होना बिलकुल अप्राकृतिक बात है, उदार और परिष्कृत समाज का मत सम्बन्धी सिद्धान्त स्वभावतः यह हुआ करता है कि

"रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

२. रीतियाँ बनती हैं देश, काल, निमित्त के अनुसार, जैसे देश, काल, निमित्त होते हैं, वैसी रीतियाँ प्रचलित होती हैं; किन्तु इस संसार में देश, काल, निमित्त सर्वत्र एक समान नहीं होते, अतः रीतियाँ भी सर्वत्र एक समान नहीं

हो सकतीं; उदाहरणार्थ शिवार्चन की जो रीति रामेश्वर में है वह कैलास में नहीं हो सकती अथवा दुर्गापूजा की जो रीति नेपाल में है वह काशी और मथुरा में नहीं हो सकती, हम लोगों में शस्त्र-पूजन की जो रीति पहले थी अब वह हो नहीं सकती, जिस भारत में क्षत्रिय और वैश्य ऋषि बनने का उद्योग किया करते थे आज वहाँ ब्राह्मण राय बनने की चेष्टा कर रहे हैं। अपरंच कहीं तो दूर के लोगों में जिन में कोई जातीय सम्बन्ध नहीं होता है, रीतियाँ एक पाई जाती हैं और कहीं एक जाति के लोगों में पृथक्-पृथक् रीतियाँ पाई जाती हैं; इंगलिस्तान के अंग्रेज और भारत के ईसाइयों में कई समान रीतियाँ बर्ती जाती हैं तो क्या इन समान रीतियों के बर्ते जाने से अंग्रेज और हिन्दुस्तानी ईसाई एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं ? कूर्माचली पन्त ब्राह्मणों में अनेक रीतियाँ ऐसी हैं जो उन के सगोत्र महाराष्ट्री पन्तों की रीतियों से बिलकुल भिन्न हैं तो क्या रीतियों के भिन्न होने से उन में जातित्व भी भिन्न हो गया ? अतः रीतियों का एक होना जातित्व के लिए कोई आवश्यक बात नहीं है।

३. भाषा का भी जातित्व से कुछ सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि भाषा राज्य, समय और साहित्य के प्रभाव से निरन्तर बदलती रहती है; जिन लोगों का राज्य होता है बहुधा उन्हीं लोगों की भाषा और साहित्य का गौरव होता है, पवन के झोंकों के साथ उड़ने वाले निःसत्व लोग उसी भाषा और उसी साहित्य में रँग जाते हैं और अपनी भाषा और अपने साहित्य को त्याग कर उस भाषा और उस साहित्य को अपना लेते हैं।

जैसा समय होता है वैसे मनुष्यों के भाव, प्रवृत्ति और सन्निकर्ष होते हैं, जैसे मनुष्यों के भाव, प्रवृत्ति और सन्निकर्ष होते हैं, वैसी उन की भाषा होती है, अतः समय के परिवर्तन के साथ भाषा का परिवर्तन भी होता रहता है।

सहित्य और भाषा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस साहित्य का जितना प्रचार होता है उतना उस की भाषा का भी प्रचार होता है। अतएव कभी एक जाति के लोगों में अनेक भाषाएँ और कभी अनेक जाति के लोगों में एक भाषा हो जाती है। जाति के श्रेय के लिए एक भाषा का होना चाहे आवश्यक हो किन्तु जातित्व से उस का कुछ सम्बन्ध नहीं है।

४. राज्य का भी जातित्व के कुछ सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि राज्य अनिश्चित वस्तु है, यह नहीं कहा जा सकता कि कौन राज्य कितनी भूमि में कब तक रहेगा, समयरूपी समुद्र में राज्यरूपी बबूले उठते और फूटते रहते हैं, कभी एक जाति अनेक राज्यों में विभक्त हो जाती है और कभी अनेक जातियाँ एक राज्य के अधीन हो जाती हैं; परन्तु इन क्षणभंगुर राज्यरूपी बबूलों का जातित्व से कुछ मतलब नहीं होता; यथा—कलकत्ता और चन्द्रनगर के बंगाली दो भिन्न राज्यों की प्रजा होने से दो पृथक् जातियों के लोग नहीं कहे जा सकते हैं, और न अंग्रेज और हम एक

राज्य की प्रजा होने से एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं। महासमर में मित्र राष्ट्रों की जय हो गई और उन्होंने जर्मनी के टुकड़े कर के आपस में बाँट लिये, तो क्या उन के ऐसा करने से एक जर्मन जाति की उतनी जातियाँ बन जाएँगी ? अथवा समस्त यूरप में यदि एकच्छत्र राज्य हो जाय तो क्या यूरप की समस्त जातियाँ सिमट कर एक जाति बन जायेंगी ? राज्य के एक होने से जाति की शक्ति अवश्यमेव बढ़ती हैं किन्तु जातित्व का मूल राज्य नहीं कहा जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि उक्त बातें यद्यपि एक-एक करके जातित्व के मूल नहीं हो सकती हैं, तथापि उन का संयोग जातित्व का आधार होता है। किन्तु किसी विशाल और परिष्कृत जनसमुदाय में ऐसा संयोग होना अति कठिन होता है, क्योंकि विचारस्वातंत्र्य होने से किसी सभ्य जनसमष्टि के मतसंबंधी विचार एक हो नहीं सकते, देशकाल, निमित्तों में भेद होने से रीतियों में भी सदा और सर्वत्र ऐक्य होना कठिन होता है, भाषा और राज्यों में भी सदा परिवर्तन होता ही रहता है। अपरञ्च उनका संयोग होते हुए भी किसी जनसमुदाय में जातित्व का अभाव होता है और किसी जनसमुदाय में उक्त संयोग के न होने पर भी जातित्व का भाव होता है। अनेक हमारे ईसाई ऐसे हैं जो अंग्रेजों के मत को मानते हैं, उनकी रीतियों को वर्तते हैं, उनके राज्य की प्रजा हैं, उन की भाषा बोलते हैं; तो क्या इन चार बातों का संयोग होने से अंग्रेज और हिन्दुस्तानी ईसाई एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं ? अथवा कूर्माचली पाण्डेय और उनके सगोत्री नेपाली पाण्डेय दो क्या भिन्न जातियों के लोग कहे जा सकते हैं क्योंकि उनकी भाषा और रीतियाँ सब भिन्न हैं।

अतः मतसम्बन्धी, रीतिसम्बन्धी, भाषासम्बन्धी और राष्ट्रसम्बन्धी एकता जातित्व का आधार नहीं मानी जा सकती।

एक विद्वान् के मतानुसार

"जिस जनसमष्टि के अधिकांश व्यष्टियों के दैशिक विचारों में ऐक्य होता है उस को जाति कहते हैं।"

किन्तु किसी जनसमुदाय के अधिकांश व्यष्टियों में दैशिकबुद्धि केवल अभ्युदय काल में उत्पन्न होती है, अवपात काल में अधिकांश व्यक्तियों में स्वार्थबुद्धि के कारण दैशिक विचार दबे रहते हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि ऐसी दैशिक विचार-शून्य जनसमष्टि जाति कही जायगी अथवा नहीं। अपरंच निमित्त विशेष से कभी भिन्न-भिन्न जातियों के अधिकांश व्यक्तियों के दैशिक विचारों में ऐक्य हो जाता है और कभी एक ही जाति के भिन्न-भिन्न दलों के दैशिक विचारों में भेद हो जाता

है। प्रथम महायुद्ध में अधिकांश अंग्रेज और अधिकांश फ्रांसीसियों के विचार बहुत कुछ एक हो गये तो क्या ऐसा होने से अंग्रेज और फ्रांसीसियों में एक जातित्व उत्पन्न हो गया? अथवा भिन्न-भिन्न देशों के साम्यवादी अर्थात् सोशलिस्ट एक प्रकार के दैशिक विचार होने से क्या एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं? अतः दैशिक विचारों का ऐक्य भी जातित्व का मूल नहीं हो सकता।

दूसरे मत के अनुसार

"एक अर्थ के सूत्र में गुँथी हुई जनसमष्टि जाति कही जाती है।"

किन्तु बहुधा यह देखने में आता है कि मनुष्यों के अर्थ असंख्य होते हैं, और देश काल निमित्त से वे सदा बदलते रहते हैं, अतः जब तक यह निश्चित न हो जाय कि वे अर्थ कौन हैं कि जिन के सूत्र में गुंथे रहने से मनुष्यों में जातित्व होता है तब तक जाति शब्द की परिभाषा ठीक समझ में नहीं आ सकती। एक कठिन शब्द के स्थान में अनेक कठिन शब्दों को रख देने से कोई व्याख्या नहीं हो सकती। यदि उक्त अर्थ शब्द का तात्पर्य मत, रीति, भाषा और राज्य समझे जायँ तो पहिले सिद्ध हो चुका है कि इन से जातित्व का कुछ सम्बन्ध नहीं होता है, यदि उस का तात्पर्य शासन है तो जाति क्या हुई मानो गीली मिट्टी हुई; जैसे गीली मिट्टी के जितने टुकड़े चाहो उतने बन सकते हैं और जितने टुकड़ों के चाहो एक टुकड़ा बन सकता है इसी प्रकार एक जाति की अनेक जातियाँ और अनेक जातियों की एक जाति बन सकती है; क्योंकि कुछ नीति, कुछ शक्ति और कुछ चातुर्य से एक शासन-सम्बन्धी अर्थ के अनेक अर्थ और अनेक शासन-सम्बन्धी अर्थों का एक अर्थ हो सकता है। अकबर के चातुर्य ने राजस्थान-केशरियों के शासन-सम्बन्धी एक अर्थ को अनेक छोटे-छोटे अर्थों में विभक्त कर दिया था और बिस्मार्क के कौशल ने अनेक जर्मन रियासतों के छोटे-छोटे शासन-सम्बन्धी अर्थों को जोड़ कर एक अर्थ बना दिया।

यह पहिले कहा जा चुका है कि देशकाल निमित्तों के अनुसार मनुष्यों के अर्थ हुआ करते हैं, किन्तु सब मनुष्यों के देश काल निमित्त सदा एक नहीं रहा करते; दो सहोदर भाइयों के देश काल निमित्तों में बहुधा ऐक्य नहीं रहता, औरों का तो कहना ही क्या। अतः किसी जन-समष्टि के सब व्यष्टियों का सदा एक अर्थ के सूत्र में गुँथा रहना असम्भव बात है, प्रतिपक्ष इस के उन में अर्थ-विपर्यय होना स्वाभाविक है। कुरुक्षेत्र की ओर देखिये जहाँ कुरु का कुरु से, गुरु का शिष्य से, पितामह का पौत्र से, मामा का भानजे से, यदुनाथ का यादव सेना से अर्थ-विपर्यय हो रहा है, सन् १८५७ को लीजिये जब कि कहीं तो हिन्दू और मुसलमान एक मन दो तन हो कर

कम्पनी की पताका को गिरा रहे हैं और कहीं उसी पताका को बनाये रखने के लिए हिन्दू के विरुद्ध हिन्दू, मुसलमान के विरुद्ध मुसलमान छुरा खींच रहा है; यूरप में देखिये, वहाँ भी कहीं तो पोप के आधिपत्य में अनेक दक्षिणी राष्ट्र एक अर्थ के सूत्र में गुँथ रहे हैं और कहीं एक राष्ट्र में बहिन के विरुद्ध बहिन दलबन्दी कर रही है, फ्रांस के बढ़ते हुए तेज को रोकने के लिए कभी जर्मनी की टिड्डी दल सेना इंगलिस्तान की सहायना को आ रही है और कभी जर्मनी को नष्ट करने के लिए इंगलिस्तान फ्रांस की सहायता कर रहा है। एक दिन वह था जब कि शार्लिमैन की पताका के नीचे समस्त ईसाई रियासतें एक हो कर मुहम्मदी पताका को उखाड़ देना चाहती थीं और आज यह दिन है कि एक ईसाई राष्ट्र मुसलमान रियासत की सहायता से दूसरे ईसाई राष्ट्र को नीचा दिखाना चाहता है।

अतः अर्थैक्य भी जातित्व का आधार नहीं समझा जाता है।

जाति की इस प्रकार की और भी अनेक परिभाषाएँ दी जाती हैं जिन की विवेचना यहाँ नहीं हो सकती, किन्तु सार सब परिभाषाओं का, जो यहाँ दी गई हैं अथवा जो यहाँ नहीं भी दी गई हैं यह है कि जातित्व कृत्रिम पदार्थ है, बनाए वह बन सकता है, बिगाड़े बिगड़ सकता है; बढ़ाये बढ़ सकता है; घटाए घट सकता है। सम्भव है कि नेशनेलिटी (Nationality) ऐसा ही कृत्रिम पदार्थ हो। नेशन (Nation) शब्द की ये परिभाषाएँ ठीक हों; किन्तु हमें नेशन शब्द से कुछ मतलब नहीं, हमें नेशन शब्द की व्याख्या करनी नहीं है; हमारा प्रयोजन है जाति शब्द से।

हमारे दैशिक शास्त्र के अनुसार जाति सहज सावयव आधिजीविक सृष्टि है अर्थात् मनुष्यों के कृत्रिम उपायों से जाति न तो बनती है और न नष्ट होती है, उस की उत्पत्ति और विनाश भगवती प्रकृति के इच्छानुसार हुआ करता है, जो शील, जो प्रवृत्तियाँ जीवधारी पदार्थों की हुआ करती हैं वेही शील वेही प्रवृत्तियाँ जातियों की भी होती हैं, जिन कारणों और जिन रीतियों से सजीव पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, उन्हीं कारणों और उन्हीं रीतियों से जातियों का भी आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जिस लिए जीवधारी पदार्थों की सृष्टि होती है उसी लिए जातियों की भी सृष्टि होती है। यह कल्पना बिल्कुल मिथ्या है कि सृष्टि के आदि में एक ही प्राणी अथवा एक ही मनुष्य किम्वा स्त्रीपुरुषों का एक ही मिथुन था, उसी एक मिथुन से अनेक स्त्रीपुरुष उत्पन्न होते गये, होते-होते वे इतने बढ़ गये कि समस्त भूमण्डल में वे फैल गये, कालान्तर में उसी एक मैथुनिक सृष्टि के विभाग से भिन्न-भिन्न जातियाँ बनती गईं। हमारे आचार्यों के सिद्धान्तानुसार सृष्टि के आरम्भ में विशेष प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति को लिए भिन्न-भिन्न अमैथुनिक जन-समुदाय

उत्पन्न हुए। कुछ समय तक ऐसी अमैथुनिक सृष्टि होती गई, इस अमैथुनिक सृष्टि में जिन की मानसिक प्रवृत्ति एक प्रकार की थी वे स्वभावतः एक साथ रहने लगे, कालान्तर में सृष्टिक्रम बदल गया, उन एक प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति वाले अमैथुनिक जनों के मिथुन से वैसे ही मानसिक प्रवृत्तिवाले जन उत्पन्न होने लगे। स्वेदज नामक अनेक जीवों की सृष्टि अब तक इसी प्रकार होती है, यूका अर्थात् जुएँ इस का उदाहरण है। वायु में रहने वाले विशेष प्रकार के अणु जीवों को जब स्वेद मिलता है तो शरीर में अमैथुनिक यूका उत्पन्न होती हैं। फिर उन अमैथुनिक यूकाओं के मिथुन से उसी प्रकार को वैसे ही गुणवाली मैथुनिक यूका उत्पन्न होने लगती हैं। इसी प्रकार मनुष्यों की भी उत्पत्ति हुई। किन्तु अनेक प्राकृतिक निमित्तों के कारण मनुष्यों की उस आदिम मानसिक प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन हो जाता है; जिन एक प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति वाले जनों को एक प्रकार के प्राकृतिक निमित्त मिले उन की उस आदिम मानसिक प्रवृत्ति में परिवर्तन भी एक ही प्रकार का हुआ, अर्थात् उन की परिवर्तित मानसिक प्रवृत्ति भी एक ही प्रकार की रही। इस प्रकार उत्पन्न हुए समान मानसिक प्रवृत्ति वाले जिस जन-समुदाय को एक प्रकार के प्राकृतिक निमित्त मिले वह हमारे दैशिक शास्त्र में जाति के नाम से कहा गया।

जैसे व्यक्तियों में अनेक तत्त्व होते हैं एवं जातियों में भी अनेक तत्त्व होते हैं, जिनमें दो तत्त्व प्रधान समझे जाते हैं एक **चिति** और दूसरा **विराट्**।

सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक अमैथुनिक जन-समुदाय की जो विशेष प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति होती है और दायधर्मानुसार जिसको उसकी मैथुनिक सन्तति प्राप्त करती है चिति कही जाती है। यह चिति जाति के प्रत्येक व्यक्ति में परम सुख की भावना रूप में रहती है, इस सुख की तुलना में वे सब सुखों को तुच्छ समझते हैं, इसके लिए वे अन्य सब सुखों को त्याग देने को सन्नद्ध रहते हैं। किन्तु यह चिति समस्त व्यक्तियों में सदा एक ही प्रकार से व्याप्त नहीं रहा करती है, अभ्युदय काल में चिति जाति के समस्त अथवा अधिकांश व्यक्तियों में व्याप्त रहती है, और अवपात काल में केवल शुद्धवंश के कुलीन व्यक्तियों की हृदयरूपी गुफा में शरण ले लेती है। जिस व्यक्ति में जितना शुद्ध जातीय रक्त वर्तमान रहता है उसमें उतना चिति का प्रकाश होता है, जिस व्यक्ति में जितनी संकरता होती है उसमें उतना चिति का अभाव होता है। इस चिति की झलक जाति के प्रत्येक व्यक्ति में दिखाई देती है, उसके समस्त व्यापार, निःशेष चेष्टाएँ, अखिल कर्म इसी चिति के प्रकाश से चैतन्य रहते हैं। चिति से जाति के चरित्र का भी अनुमान हो जाता है, ऊँच-नीच जैसी चिति होती है वैसे जाति में गुण भी होते हैं। जब तक चिति जागृत और निरामय रहती है तब तक जाति का अभ्युदय होता रहता है। चिति का तिरोधान होने पर अथवा

उसमें किसी प्रकार का विपर्यास आने से जाति का अवपात होने लगता है। चिति का लोप हो जाने पर जाति निश्चेतन देह के समान निष्प्राण, निष्क्रिय, निश्चेष्ट हो जाती है। ऐसी चिति-शून्य जाति के लिए सिवाय दूसरे की भोग्य वस्तु होने के और कोई चारा नहीं रहता है। जब किसी जाति को चिति अन्तर्हित होने लगती है तो अनायास उस जाति के अवपात का अनुमान हो जाता है। यह जान लेना चाहिए कि उस जाति का कार्य्य पूरा हो चुका है, अब भगवती प्रकृति को उसकी आवश्यकता नहीं रही; और जब किसी पतित जाति में अन्तर्लीन हुई चिति का पुनराविर्भाव होने लगता है तो यह समझ लेना चाहिए कि उस जाति का पुनरुदय होता है। यह चिति जातिरूपी शरीर में चैतन्य है, अतः हमारे आचार्यों के अनुसार एक चिति और एक प्रकार के प्राकृतिक निमित्त वाला जनसमुदाय जाति कहा जाता है।

चिति से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षत्र शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति विराट् कही जाती है। जैसे प्रकृति ने शाकाहारी जीवों को चबाने के लिए चपटे दाँत और मांसाहारी जीवों को नोचने के लिए पैने नख और तीखे दाँत दिए हैं, एवं उसने आत्मरक्षा के लिए एकाकी जीवों को विशेष शारीरिक विभूति दी है और सामाजिक जीवों को एक विशेष प्रकार का सहानुभूतियुक्त तेज दिया है जो व्यष्टि को समाज के हितार्थ आत्मत्याग करने को प्रेरित करता है, जिससे व्यष्टियों में परस्पर सहानुभूति रहती है और समष्टि की रक्षा के लिए व्यष्टिगत शक्ति न्यूनाधिक रूप से एकीभूत होकर केन्द्रस्थ रहा करती है। यह विराट् व्यक्तियों के हृदय में चिति के प्रकाश से ही जागृत होता है, चिति के अन्तर्हित होने पर विराट् का भी ह्रास होता चला जाता है। यह विराट् जातिरूपी शरीर का प्राण है, जैसे मनुष्य देह में समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ एक प्राण के रूपान्तर होती हैं एवं जाति की समस्त दैशिक-चेष्टाएँ उसी एक विराट् का रूपान्तर होती हैं; जैसे शरीर में जब तक प्राण रहता है, तब तक उसमें अन्नादि से बलसञ्चय होता रहता है, किन्तु प्राण के चले जाने पर जैसे शरीर के तत्त्व अपने काम में न आकर किसी दूसरे शरीर के काम में आते हैं; एवं जब तक जाति में विराट् रहता है तब तक देवता उसको अपनी-अपनी शक्ति दिया करते है, किन्तु विराट् के चले जाने पर वह जाति शक्तिहीन हो जाती है उसके बल, बुद्धि अपने काम में न आकर किसी दूसरी जाति के काम में आने लगते हैं। जब तक विराट् ठीक रहता है तब तक जाति का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और जब मिथ्या आचार-विचार से अथवा उसके प्रलयक्रम के उपस्थित होने से विराट् में गड़बड़ होने लगती है तो जातिरूपी शरीर में स्वार्थरूपी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है, उसके सब अंग निस्तेज और निस्सहानुभूति हो जाते हैं, सबको

अपनी-अपनी सूझने लगती है, वह सरासर निर्बल हो जाता है। उससे प्रतिरोध शक्ति जाती रहती है, प्रतिरोध शक्ति के चले जाने पर वह दोषों से अनायास आक्रान्त हो जाता है, उसमें अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, दिन-प्रतिदिन उसका पतन होता जाता है।

जैसे भिन्न-भिन्न कार्य्य के लिए प्राण शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की इन्द्रियाँ, उपइन्द्रियाँ, अवयव और उपअवयव उत्पन्न करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से स्वयं काम करता है; एवं भिन्न-भिन्न कार्य्य के लिए विराट् जाति में भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ण और उपवर्ण अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति के लोगों को उत्पन्न करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से आप काम करता है। जब तक जाति के उक्त अवयव अपने-अपने कार्य्य में तत्पर रहते हैं तब तक उसका अनामय बना रहता है, प्रतिकूल कारणों से उसमें विपर्य्यास नहीं पड़ सकता है किन्तु स्वार्थवशात् जब वे अंग अपने-अपने कर्त्तव्य से मुख मोड़ने लगते हैं तब उसकी वही दशा होती है जो इन्द्रियों के अपना-अपना काम छोड़ देने से शरीर की होती है। विराट् के तेज से ही वर्ण और उपवर्ण अपने-अपने कार्य में तत्पर रहते हैं, उसका तिरोधान होने पर स्वार्थ आ जाता है, प्रत्येक वर्ण अपने धर्म को त्यागना और अन्य वर्णों की विभूति को लेना चाहता है।

प्रत्येक जाति भगवती प्रकृति के किसी न किसी कार्य्य विशेष के लिए उत्पन्न होती है, जब वह कार्य्य हो चुकता है और प्रकृति को उसकी आवश्यकता नहीं रहती तब उसका अन्तर्धान अथवा लोप हो जाता है। जैसे कोई जगत् की अभ्युन्नति और कोई उसकी पुनरावृत्ति कहते हैं, महामाया ने पशुपक्षी और वनस्पति की भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न की हैं; एवं उसने कार्य्य विशेष के लिए मनुष्यों की भी भिन्न-भिन्न जातियां उत्पन्न की हैं; जब किसी जाति का कार्य्य हो चुकता है तब उसका अन्तर्धान अथवा लोप हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि कब किस जाति का अन्तर्धान होता है और कब किस जाति का लोप होता है? जब किसी जाति का कार्य्य एक बार हो चुकता है और भविष्य में अनेक बार फिर उसकी आवश्यकता होने वाली होती है तब उस जाति का अन्तर्धान होता है। जब किसी जाति का कार्य्य एक बार हो चुकता है और भविष्य में उसकी आवश्यकता नहीं रहती है तब उस का नाश हो जाता है, उस में शुद्धवंश वाले लोग रह नहीं सकते हैं, उस से संकर जातियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। जैसे संसार में अनेक ओषधियाँ ऐसी होती हैं जिन की आवश्यकता प्रकृति को बीच-बीच में होती है किन्तु निरन्तर नहीं, जिस बीच में प्रकृति को उन की आवश्यकता होती है उस बीच प्राण उन में जागृत रहता है जिससे वे हरी भरी रहती हैं और जिस

बीच प्रकृति को उनकी आवश्यकता नहीं रहती है उस बीच ऊर्जा उन में अन्तर्लीन हो जाती है जिससे वे नीरस और नंगी हो जाती हैं। एवं अनेक जातियाँ ऐसी होती हैं जिन का बार-बार उदय और बार-बार अवपात होता रहता है, जब प्रकृति उन से कोई काम लिया चाहती है तब उन में चिति और विराट् प्रकट हो जाते हैं जिससे उन जातियों में अनेक प्रकार के रथी और महारथी उत्पन्न होते हैं, जिन के कारण वे जातियाँ बड़ी प्रतापशालिनी हो जाती हैं, सर्वत्र उन की मानपताका फहराने लगती है और जब वे काम, जिन के लिए वे जातियाँ उत्पन्न हुई थीं, हो चुकते हैं तब फिर उस बीच प्रकृति को उन की आवश्यकता नहीं रहती है, अतः उस बीच उन जातियों की चिति और विराट् अन्तर्लीन होने लगते हैं जिससे उन जातियों में महापुरुषों का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, और जो उत्पन्न हो बैठते हैं वे अल्पायु होते हैं अथवा अनुकूल निमित्तों के न मिलने के कारण वे सदा निष्फल-प्रयास होते हैं। वीर, मनस्वी और कुलीन लोग पीछे पड़ जाते हैं, भीरु, ब्रह्मचारी और नीच लोग अग्रसर हो जाते हैं जिससे जाति निस्तेज और छिन्न-भिन्न हो जाती है। शुद्धवंश के श्रेष्ठ व्यक्तियों में चिति भस्म से ढके हुए स्फुलिंग के समान वर्तमान रहती है, अनुकूल निमित्तों के उपस्थित होने पर इसी चिनगारी से फिर समस्त जाति तेजोमय हो कर जाग उठती है, उस में विराट् का पुनः संचार होने लगता है, उस में फिर वैसे ही वीर, महात्मा जन्म लेने लगते हैं, जाति में उन का मान होने लगता है वे ही अग्रसर माने जाते हैं। किन्तु ऐसी जातियाँ संसार में बहुत कम होती हैं कि जिन की आवश्यकता प्रकृति को बार-बार होती रहती है, अधिकतर ऐसी ही जातियाँ होती हैं जिन की आवश्यकता प्रकृति को एक ही बार होती है। जब वह कार्य, कि जिस के लिए जातियाँ उत्पन्न होती हैं, हो चुकता है तो उन में अत्यन्त कामुक दौर्बल्य आ जाता है जिसके कारण उन में अन्य जातियों के संसर्ग से सङ्कर जातियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, फिर उन सङ्कर जातियों का अन्य सङ्कर जातियों से संसर्ग होने से एक दूसरी नवीन सङ्कर जाति उत्पन्न होती है। ऐसा अनेक बार होने से कालान्तर में उन आदि जातियों की चिति, गुण और पिण्ड का पूर्णतया अभाव होकर भिन्न चिति, भिन्न गुण और भिन्न पिण्ड वाली एक बिलकुल नवीन जाति उत्पन्न हो जाती है।

भगवती महामाया के राज्य में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, कोई दो क्षण ऐसे नहीं होते हैं कि जो एक समान हों, सदा नई सृष्टि, नई बात, नये-नये जीवों की उत्पत्ति और पुरानों का लोप होता जाता है; इसी प्रकार नवीन मानव जातियों का अविर्भाव और प्राचीनों का तिरोभाव होता रहता है। यह भगवती प्रकृति का सनातन नियम है।

जातियों के उदयावपात के पूर्व विराट् का उदयावपात हो जाता है, विराट् का उदयापवात होता है चिति के आविर्भाव और तिरोभाव से, चिति ही जातित्व का

मूलतत्त्व होता है, इसी चिति के द्वारा व्यक्ति के सुख-दुःख जाति के सुख-दुःखों से सम्बद्ध होते हैं। किसी जाति के शुद्धवंशवाले किन्हीं दो व्यक्तियों को लीजिये, चाहे एक राजा और दूसरा रङ्क हो, उन दोनों की प्रवृत्ति, मानसिक अवस्था और सुख-दुःख समान पाये जाएँगे, चाहे एक को अनायास दिव्य भोजन मिलता हो और दूसरे को कष्ट से रूखासूखा अन्न प्राप्त हो; किन्तु इस भोजन-भेद से उन की प्रवृत्ति और मानसिक अवस्थाओं में कुछ भेद नहीं होता है। भोजन पर पशुओं के सुखदुःख निर्भर होते हैं, मनुष्यों के सुखदुःख निर्भर होते हैं चिति पर।

चिति के अनुसार जाति के गुण होते हैं, जिस प्रकार की चिति होती है, उस प्रकार की जाति की वाञ्छा, उस प्रकार का उस का स्वभाव, वैसी उस की आयु, वैसा उस का प्रभाव होता है।

चिति दो प्रकार की होती है, एक दैवी और दूसरी आसुरी।

विषय सुखों से श्रेष्ठ सुखवाली चिति दैवी चिति कही जाती है।

विषय सुखवाली चिति आसुरी चिति कही जाती है।

दैवी चितिवाली जाति के गुण सात्विक, वाञ्छा विश्वजन्यावुद्धि, स्वाभाव ऊंचा, आयु दीर्घ, प्रभाव श्रेष्ठ गुणोत्पादक होता है। ऐसी जाति की आवश्यकता प्रकृति को वार-वार हुआ करती है। ऐसी जाति में अधोलिखित विशेषताएँ होती हैं:—

(१) बुरे दिनों के आने और विकार हेतुओं के उपस्थित होने पर अपनी जाति-शुद्धि को बनाए रखना।

(२) अन्य जातियों से सदा भेद-भाव बनाए रखना, श्रेष्ठ जातियों में यह गुण प्रधान रूप से होता है। अतः सिकन्दर के दिग्विजय के लिए पूर्व की ओर प्रस्थान करते समय अरिस्टोटल ने उस को अन्य जातियों से भेद-भाव बनाए रखने का मुख्य उपदेश किया था।

(३) शुद्धवंशवालों का अधिक होना अर्थात् ऐसे लोगों की संख्या अधिक होना कि जिन में अन्तर्लीन हुए चिति के संस्कार वर्तमान रहते हैं।

(४) जाति सङ्करों की अपेक्षा कुलीनों का अधिक सद्गुणी होना।

(५) अभ्युदय काल में दैवी सम्पद् और समीकरण शक्ति का होना।

(६) अवपात काल में तितिक्षा और प्रतिरोध शक्ति का होना।

(७) समृद्धि और विपत्ति से चिति का विकृत न होना।

(८) विजातीय उत्कर्ष से चिति का दूषित न होना।

आसुरी चितिवाली जाति के गुण राजस, वाञ्छा विषय भोग, स्वभाव नीच, आयु अल्प, प्रभाव नीचगुणोत्पादक होता है। ऐसी जातियों में अधोलिखित विशेषताएँ होती हैं:—

(१) जाति शुद्धि को बनाए रखने की शक्ति का न होना।

(२) अन्य जातियों से भेदभाव बनाये रखने की शक्ति न होना।

(३) जाति सङ्करों का अधिक होना, अर्थात् ऐसे लोगों की संख्या अधिक होना कि जिन में चिति का लोप हो गया हो।

(४) कुलीनों की अपेक्षा जातिसङ्करों का अधिक सद्गुणी होना।

(५) अभ्युदयकाल में आसुरी सम्पद् और प्रत्याकरण का होना।

(६) अवपातकाल में अतितिक्षा और प्रतिरोध शक्ति का अभाव होना।

(७) समृद्धि और विपत्ति से चिति का विकृत हो जाना।

(८) विजातीय उत्कर्ष से चिति का दूषित हो जाना।

एक समय उदय सबका होता है, अतः ऐसी जाति का भी एक समय उदय होना साधारण बात है, किन्तु इसका उदय उल्का के समान संसार की पीड़ा के लिए होता है। ऐसी जाति का उदय एक ही बार होता है, वह भी थोड़े दिनों के लिए। भगवती प्रकृति ऐसी जाति का नाश कभी तो उसकी परिपन्थी जाति को प्रबल करके करती है, कभी उसकी बुद्धि को भ्रष्ट करके, कभी उस के व्यक्तियों को निस्सत्व और अल्पायु कर के, कभी उस जाति के कुलीन व्यक्तियों को वन्ध्य करके, कभी दूसरी जाति के समागम द्वारा उसमें जाति सङ्करों को उत्पन्न करके और कभी किसी अन्य उपाय से।

हमारे दैशिकशास्त्रानुसार देश और जाति के अर्थों को मनन करने से यह तात्पर्य पाया जाता है कि देशरूपी वस्त्र को धारण किये हुए जाति रूपी शरीर की आत्मा चिति है। जाति की संक्षेप विवेचना हो चुकी है, विशेष विवेचना इस की उत्तरार्द्ध में की जाएगी।

इति दैशिक-शास्त्रे दैशिकधर्मव्याख्यानाध्याये
जातिनिरूपणो नाम द्वितीयाह्निकः।

———

तृतीय आह्निक

दैशिकधर्म का अर्थ

पहिले यह कहा जा चुका है कि देश की रक्षा अथवा जाति की धारणा करने वाला कर्म दैशिक धर्म अथवा जातिधर्म कहा जाता है, और यह भी कहा गया है कि विना किसी जाति से मातृक सम्बन्ध हुए कोई भूमि देश नहीं कही जाती है, विना चिति और विराट् के जागृत हुए किसी जाति का अभ्युदय नहीं हो सकता है।

अतः तात्पर्य यह हुआ कि चिति और विराट् की धारणा जिस कर्म से होती है यथार्थ में वही दैशिकधर्म अथवा जातिधर्म है, न कि जड़ भूमि का प्रेम अथवा उस की हितेच्छा।

बहुत दिनों तक किसी स्थान में रह जाने से उसमें प्रेम हो जाना स्वाभाविक बात है, मनुष्यों का तो कहना ही क्या तिर्यग्जाति में भी ऐसा प्रेम पाया जाता है, स्वाभाविक अवस्था में सभी प्राणियों को अपने देश, अपनी जाति से प्रेम होता है; उनके हित की इच्छा भी स्वाभाविक होती है; किन्तु यह प्रेम, यह हितेच्छा दैशिकधर्म अथवा जातिधर्म नहीं हो सकते है; नहीं तो बिल्ली और कौवे भी आदर्श रूप देशभक्त समझे जायेंगे। क्योंकि इन के समान स्थानप्रेम और किसी जन्तु में नहीं पाया जाता है। अपरञ्च यदि नेपाल में चीन का अधिकार हो जाय और चीनी वहाँ से हमारे नेपाली लोगों को निकाल कर उसको अपने लिए भोगवती के समान रमणीय बनाना चाहें, यदि कोई नेपाली इस काम में चीनियों की सहायता करे तो क्या उसका यह काम दैशिकधर्म कहा जा सकता है? अथवा कोई अंग्रेज इंगलिस्तान के नन्दनवन के समान पार्कों को उजाड़ कर, उस के कुबेर के समान भण्डार को खाली करके, विश्वकर्मा के समान उस के कारखानों को बन्द कर के भी अपनी जाति की चिति और विराट् की रक्षा करे तो क्या उस को कोई देशद्रोही कह सकता है?

जाति के लिए भोगविलासों की प्राप्ति भी दैशिकधर्म अथवा जातिधर्म नहीं कहा जाता है। क्योंकि:—भोगविलासों से किसी देश की रक्षा अथवा जाति की धारणा नहीं हो सकती है; अपरञ्च विराट्-हीन जाति को भोग प्राप्त ही नहीं सकते हैं, दैवात् यदि ऐसा हो जाय तो वह उन का क्षेम नहीं कर सकते हैं, यदि ऐसा हो भी जाय तो उन से जाति में तमोगुण उत्पन्न हो जाता है। विराट् के उदय होने पर भोग विलास स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं और उस के तिरोधान हो जाने पर वे स्वयं चले जाते हैं। विराट् की उपेक्षा कर के जाति का हित साधन करना ठीक ऐसा है कि जैसा प्राणों की उपेक्षा कर के शरीर को निरामय रखना।

शासनपद्धति की खींचातानी से भी जाति का यथार्थ हित नहीं हो सकता है; क्योंकि देश का हित शासकों पर निर्भर होता है न कि शासनपद्धतियों पर, सब इस बात को मानेंगे कि राम का राजसत्ताक राज्य (मोनार्की) रावण के प्रजासत्ताक (डिमक्रेसी) राज्य की अपेक्षा शतधा और सहस्रधा श्रेयस्कर होगा। चिति और विराट् के जागृत होने पर शासक सदा योग्य होते हैं चाहे शासनपद्धति किसी प्रकार की हो और तद्विपरीत अवस्था में शासक सदा अयोग्य होते हैं शासन चाहे दाय पद्धति से हो अलवा प्रतिनिधान पद्धति से।

किसी उन्नतिप्राप्त अन्य जाति का अनुकरण करना भी दैशिकधम नहीं कहा जाता है। वरन् इस अप्राकृतिक उपाय से उलटी हानि होती है; क्योंकि इससे अपनी चिति उस दूसरी जाति की चिति से आक्रान्त हो जाती है और अपना विराट् निराधार होकर त्वरित-गति से शिथिल होने लगता है। जिससे प्राकृतिक रीति से विलम्ब से होने वाला अवपात त्वरित गति से होने लगता है। बहुधा यह देखा गया है कि अभ्युदय काल में कोई जाति दूसरे के रंग में नहीं रँगती है, केवल अवपात काल में दबी हुई जाति दूसरी उन्नत जातियों का अनुकरण करती है जब कि उस पतनशील जाति में प्रतिभाहीन, व्यवसायशून्य, आक्रान्तधी, छद्मचारी, स्वार्थपरायण, लोकाचार की बयार में उड़ने वाले लोग उत्कर्ष प्राप्त करने लगते हैं।

हमारे आचार्यों के अनुसार देश अथवा जाति का श्रेय होता है केवल चिति और विराट् की धारणा से और तत्प्रतिकूल कारणों का नाश करने से किन्तु चिति में कोरा प्रेम होने से ऐसा नहीं हो सकता है, यह होता है केवल कर्म करने से। यह स्मरण रहना चाहिए कि धर्म शब्द में कर्म प्रवृत्ति की सूचना होती है न कि मानसिक अवस्था की; अर्थात् देशहित की इच्छा मात्र होना दैशिकधर्म नहीं कहा जाता है, दैशिकधर्म उच्च कोटि कर्मयोग है।

कर्मयोग कहते किसे हैं ? फल की इच्छा को छोड़ कर जो कर्म किया जाता है साधारणतः उस को कर्मयोग कहते हैं। किन्तु विक्षिप्त के समस्त कर्म बिना किसी फलेच्छा के होते हैं, तो क्या वह कर्मयोगी कहा जा सकता है ? अथवा बिना फल की इच्छा किये इधर उधर घूमा करना अथवा 'ओम् तत् सत्' कह कर सारे दिन देवार्चन और स्वाध्याय में लगा रहना कर्मयोग कहा जा सकता है ? गीता में क्या ऐसे ही कर्मों के लिए कहा गया है कि:—

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्॥"

कर्मयोग ऐसे कर्मों को कहते हैं कि जिन से प्राक्तन संस्कारों का नाश होवे और नवीन संस्कार बनें नहीं, किन्तु ऐसा तभी हो सकता है कि जब रजोगुण का ह्रास

किया जावे, रजोह्रास होता है ऐसे कर्मों के करने से जिन में त्याग, ओज और विवेक का संयोग हो। त्याग से अर्थात् फलेच्छारहित कर्मों के करने से चित्त से राग उत्पन्न होने नहीं पाता है; निराधार होने से रजोगुण का ह्रास होने लगता है; अपरञ्च ऐसे कर्मों के करने से चित्त में नवीन संस्कार भी उत्पन्न नहीं होते हैं। जब मनुष्य कोई कर्म करता है तब उस में कुछ न कुछ प्राक्तन संस्कार काम में आकर नष्ट हो जाते हैं, जिस कोटि का कर्म होता है, तदनुसार प्राक्तन संस्कार भी नष्ट होते हैं; अर्थात् निस्तेज कर्मों के करने से बहुत कम प्राक्तन संस्कार नष्ट होते हैं और अत्यन्त तेजस्वी कर्मों के करने से जन्मजन्मान्तर के संस्कार उमड़ आते हैं। अतः बिना ओजस्वी कर्मों को किये कर्मयोग नहीं हो सकता है। विवेक की आवश्यकता इस लिए होती है कि अविक्षिप्त मनुष्य का कोई काम चाहे उस में फलाशा हो अथवा न हो बिना उद्देश्य और विधान के नहीं होता है। उद्देश्य और विधान दो-दो प्रकार के होते हैं:—

(१) दैव और आसुर।

जिस में साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश, धर्म की संस्थापना और अधर्म का उच्छेद हो उसे दैव उद्देश्य कहते हैं।

जिस देशकाल निमित्त के अनुसार उद्देश्य का साधन सुकर हो, वृथा प्राणक्षय न हो उसे दैव विधान कहते हैं।

दैव विधान से, दैव उद्देश्य के साधन में लगे रहने से सत्व का विकाश होता है।

दैव उद्देश्य और दैव विधान के विपरीत लक्षण वाले उद्देश्य और विधान को आसुर उद्देश्य और आसुर विधान कहते हैं।

आसुर उद्देश्य और आसुर विधान से सत्व का संकोच होता है।

बिना विवेक के उद्देश्य और विधान की पहिचान नहीं हो सकती। अतः बिना विवेक के कर्मयोग नहीं हो सकता।

किन्तु यथार्थ दैशिक धर्म में भी त्याग, ओज और विवेक की आवश्यकता होती है; क्योंकि जब चिति और विराट् के क्षीण होने से धर्म की ग्लानि, जाति का अवपात, साधुओं को कष्ट, दुष्टों का उदय होने लगता है, राजा से रंक तक प्रायः सब की प्रवृत्ति निम्नगा हो जाती है, तो ऐसे समय रूपी प्रवाह के प्रतिकूल अनेकों की अप्रसन्नता रूपी तूफान की परवाह न करके, बिना उतराई की आशा के, जान बूझ कर अपने पिशुन और अवसर्प रूपी नाकों और सुइसों के बीच डाल कर अचेत सोए हुए अथवा उन्मत्त लोगों से भरी हुई जाति रूपी नाव को संशयरूपी भौंरों से बचाते हुए पार लगाने की चेष्टा करना कितने त्याग, ओज और विवेक का काम है। अतएव कहा गया है कि दैशिकधर्म उच्च कोटि का कर्मयोग है।

दैशिक धर्म के लिए दो और बातों की आवश्यकता होती है, एक स्वजाति-प्रकाश की और दूसरी दैशिकशास्त्र के ज्ञान की।

जब तक मनुष्य में चिति का प्रकाश नहीं होता तब तक उस से जाति में विराट् की जागृति नहीं हो सकती। विराट् की जागृति हुए बिना कभी किसी जाति का हित हो नहीं सकता। सम्भव है कि ओज और विवेक के संयोग से चितिशून्य मनुष्य का स्वार्थ सिद्ध हो जाय, किन्तु जाति का उससे कुछ श्रेय नहीं होता है, वरन् उलटे हानि होने की सम्भावना रहती है।

जैसे शारीरिक निरामयता के लिए वैद्यकशास्त्र की आवश्यकता होती है, वैसे जातीय निरामयता के लिए दैशिकशास्त्र की भी आवश्यकता होती है, बिना इस शास्त्र के ज्ञान के दैशिकविषयों में हाथ डालना ठीक वैसा होता है कि जैसा वैद्यक-शास्त्र के ज्ञान के बिना किसी की चिकित्सा करना। बिना निदान और निघण्टु का ज्ञान हुए केवल हितेच्छा से कोई औषध दे देने से काम नहीं चल सकता है, ऐसी चिकित्सा से रोगी को लाभ के बदले हानि होने की अधिक सम्भावना होती है, एवं बिना दैशिकशास्त्र को जाने केवल हितकामना से कोई देशसम्बन्धी काम कर देने से देश को लाभ नहीं हो सकता वरन् उलटी हानि होती है। भेद केवल इतना है कि आयुर्वेद के ज्ञान के बिना चिकित्सा करने से दो-चार व्यक्तियों की हानि होती है, किन्तु दैशिक शास्त्र के ज्ञान के बिना दैशिक विषय में हाथ डालने से समस्त जाति का अहित होता है।

अत एव हमारे शास्त्रों में दैशिकशास्त्र सब से प्रधान समझा जाता था, हमारी भिन्न-भिन्न स्मृति रूपी नदियाँ भिन्न-भिन्न मार्ग से उसी एक दैशिकशास्त्र रूपी सागर में जाकर गिरती थीं। अतः प्राचीन काल में यह शास्त्र सब को पढ़ना पड़ता था, इसका अध्ययन अनिवार्य समझा जाता था, इसका समष्टिगत प्रचार करने के लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते थे। इसी शास्त्र के प्रताप से हम ने यूनान के ज्ञान सँभालने के बहुत पहिले इस विशाल भारत में वह समाज-रचना कर दिखाई थी कि जिसको प्लेटो और अरिस्टोटल आदर्श रूप समझते थे, जिसको वे छोटे यूनान में न कर सके, जिसके लिए वर्तमान सोश्यलिस्ट लार टपका रहे हैं; इसी शास्त्र की कृपा से अनादि काल से हम उन दैशिक सिद्धान्तों को बरतते चले आ रहे हैं कि जिन को शताब्दियों का अनुभवशाली चतुर इंगलिस्तान आज इस महासागर में सीख रहा है। ऐसा सुन्दर दैशिकशास्त्र या तो लाखों-करोड़ों वर्षों के अनुभव का परिणाम अथवा समाधिजन्य ज्ञान का फल होना चाहिए; क्योंकि बहुधा यह कहा जाता है कि दैशिकशास्त्र का आधार होता है इतिहास, अनेक वर्षों में जब कारण विशेष उपस्थित होता है तब कोई ऐतिहासिक घटना होती है, अनेक ऐसी घटनाओं के मन्थन से कुछ

ऐतिहासिक सिद्धान्त निकलते हैं, और फिर अनेक ऐसे सिद्धान्तों के मन्थन से कुछ दैशिक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, अनेक ऐसे सिद्धान्तों के संग्रह से दैशिकशास्त्र की उत्पत्ति होती है, और फिर उस शास्त्र के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने में अनेक शताब्दियाँ बीत जाती हैं, और अनेक वर्षों में उस व्यवहार में निष्ठा होती है। इससे अनुमान हो सकता है कि हमारा दैशिक शास्त्र कितनी शताब्दियों का अनुभव होगा। यदि यह कहा जाय कि हमारे दैशिकशास्त्र का आधार इतिहास नहीं हो सकता है, क्योंकि हमारे पूर्वजों में इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी, तो यह मानना पड़ेगा कि उसका आधार समाधिजन्य ज्ञान था। जिस शास्त्र का आधार समाधिजन्य ज्ञान हो उससे श्रेष्ठ और कोई शास्त्र नहीं हो सकता। उसका आधार चाहे इतिहास हो अथवा समाधिजन्य ज्ञान, उभयतः यही सिद्ध होता है कि हमारे दैशिकशास्त्र से उत्तम दैशिकशास्त्र होना प्रायः असम्भव है। हमारे देश में बहुत समय तक इस शास्त्र का प्रचार रहा, कालान्तर में इस शास्त्र की विस्मृति हो गई, इसकी शाखा और प्रशाखा-रूप अन्य शास्त्रों में बिखरे हुए इसके सिद्धान्त दिखाई देने लगे। ऐसा हो जाना कोई अनोखी बात नहीं है, भगवती प्रकृति का यह सनातन नियम है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे इस शास्त्र के अनुसार क्षिति और विराट् की धारणा और तत्प्रतिकूल कारणों का नाश करने वाले कर्म को दैशिक धर्म अथवा जातिधर्म कहते हैं।

इति दैशिक-शास्त्रे दैशिक-धर्म व्याख्यानाध्याये
दैशिकधर्म विवृति नाम तृतीयाह्निकः।

स्वातन्त्र्याध्याय

स्वतन्त्रता का अर्थ

पूर्व अध्यायों के अनुसार दैशिकधर्म कोई साधारण बात नहीं है, यह बहुत बड़ा काम है जिससे आध्यात्मिक, आमुष्मिक और ऐहिक सब अर्थ सिद्ध होते हैं, किन्तु कोई बड़ा काम स्वतन्त्रता के बिना नहीं हो सकता। जिस कोटि का काम होता है उस कोटि की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए। मनुष्य जितना स्वतन्त्र होता है उतना उस में पौरुष और योग्यता होती है और जितना वह परतन्त्र होता है उतना वह पुरुषार्थहीन और अयोग्य होता है। सांख्याचार्यों के मतानुसार बद्ध पुरुष बड़े काम नहीं कर सकते हैं। न्यायाचार्यों के मतानुसार कर्ता स्वतन्त्र होना चाहिए; यवनाचार्य अरस्तू के मतानुसार परतन्त्र मनुष्य दैशिक बुद्धिशून्य होता है, वह बिना दूसरों के चलाए स्वयं अच्छा काम नहीं कर सकता, जर्मन आचार्य निज्शे के कल्पनानुसार भी संसार के भावी सञ्चालक, जिनको वे अतिमानुष कहते हैं स्वतन्त्र जीव होंगे। कर्मवाद के पक्ष से बिना स्वतन्त्रता के कोई बड़ा काम नहीं हो सकता है।

आनन्दवाद के पक्ष से भी बिना स्वतन्त्रता के कभी किसी को आनन्द हो नहीं सकता है, स्वतन्त्रता में जैसी घटती-बढ़ती होती रहती है आनन्द में भी वैसी घटती-बढ़ती होती रहती है; अर्थात् आनन्द और स्वतन्त्रता एक ही पदार्थ हैं। जहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता वहाँ पूर्ण आनन्द और जहाँ पूर्ण परतन्त्रता वहाँ पूर्ण दुःख। वेदान्ताचार्यों के मतानुसार माया से स्वतन्त्र हो जाना ही सच्चिदानन्द भाव कहा जाता है, योगाचार्यों के सिद्धान्तानुसार भी पुरुष का प्रकृति से स्वतन्त्र हो जाना कैवल्यपद कहा जाता है।

अतः दोनो कर्मवाद और आनन्दवाद से दैशिकधर्म के लिए स्वतन्त्रता का अनिवार्य होना सिद्ध होता है।

मत समझिए कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से हमारी दृष्टि स्वतन्त्रता की ओर जाने लगी; जो जाति भगवती प्रकृति के भी अधीन रहना नहीं चाहती है, जिस जाति का लक्ष्य निःशेष बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त करना है, संसार में कौन उस जाति को स्वतन्त्रता की शिक्षा दे सकता है। हमारे पूर्वजों के समान स्वतन्त्रता को आज तक किसी ने न समझा और न शताब्दियों तक किसी के समझने की सम्भावना दिखाई देती है।

अब मीमांसा इस बात की है कि स्वतन्त्रता है क्या पदार्थ ? हमारे आचार्यों के मतानुसार स्वतन्त्रता उस अवस्था को कहते हैं कि जब अपना हित किसी प्रकार किसी के हाथ में न हो कर सर्वत्र और सर्वथा अपने हाथ में हो। किन्तु मनुष्य चोले में ऐसी अवस्था पूर्णरूप से प्राप्त हो नहीं सकती; क्योंकि भगवती प्रकृति ने मनुष्य को देव और पशु के बीच की अवस्था दी है। देवावस्था में सङ्कल्प मात्र से प्रकृति भोगों को उपस्थित कर देती है, और पाशवावस्था में प्रकृति के दिए हुए भोगों को भोगने के लिए भी दूसरों के मुख ताकना पड़ता है। इन दो अवस्थाओं की मध्य कोटि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था कही जाती है, जब मनुष्य इस अवस्था से ऊँचा जाने लगता है तब वह देवत्व को और जब वह इससे नीचा गिरने लगता है तो वह पशुत्व को प्राप्त करने लगता है। देवावस्था और पाशवावस्था की मध्यवर्तिनी मनुष्य की उक्त प्राकृतिक अवस्था, कि जिस में उसके प्राकृतिक हित में किसी प्रकार का बाह्याभ्यन्तरिक हस्तक्षेप नहीं होता है, मानवी स्वतंत्रता कही जाती है।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य का प्राकृतिक हित क्या है ? इसको जानने के लिए चार बातें स्मरण रखनी चाहिए :—

(१) जगत्-जननी प्रकृति ने मनुष्यों को सामाजिक जीव बनाया है अर्थात् ऐसा जीव कि वे अकेले रह नहीं सकते हैं; बिना एक साथ रहे उनका निर्वाह नहीं हो सकता है; किन्तु चिति भेद से उन को इस प्रकार विभक्त भी कर दिया कि दो भिन्न जातियां एक संग निश्चिन्त और सुखपूर्वक नहीं रह सकतीं, उनमें से एक भोक्ता और दूसरी भोग्य हो जाती है, एक का उदय दूसरी के अवपात पर निर्भर हो जाता है।

(२) चिति का विराट् से, विराट् का जाति से, जाति का व्यक्ति से वही सम्बन्ध रहता है जो चैतन्य का प्राण से, प्राण का शरीर से, शरीर का अंग से रहता है; जैसे बिना चैतन्य और प्राण के ठीक रहे शरीर ठीक नहीं रहता है और बिना शरीर के ठीक रहे उस का कोई अंग सुखी नहीं रह सकता है, एवं बिना चिति और विराट् के जागृत हुए जाति का श्रेय नहीं हो सकता है और बिना जातीय श्रेय के व्यक्तिगत श्रेय नहीं हो सकता है, और जैसे प्राण के ठीक रहते हुए यदि किसी अंग में कुछ क्षति हो जाय अथवा उस में कोई रोग हो जाय तो शीघ्र ही वह क्षति भर जाती है और रोग दूर हो जाता है, यदि प्राण-क्रिया ठीक न हो तो वह क्षति और वह रोग दिन-दिन बढ़ते जाते हैं, एवं चिति और विराट् के उदयावपात से जाति और व्यक्ति के सुख-दुःखों का भी उदयावपात होता है।

(३) प्राक्तन संस्कारों का प्रतिबिम्ब मनुष्यों में अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक व्यक्त रहता है जिसके कारण उन में अन्य प्राणियों की अपेक्षा गुणभेद और अर्थवैषम्य अधिक होता है और इसी लिए उन में सर्वथा एकरसवाहिता नहीं हो सकती है।

(४) मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा इच्छा अधिक प्रबल होती है जो समुद्र के समान कभी भरती नहीं, दावानल के समान सदा बढ़ती रहती है, पवन के समान कभी शान्त नहीं होती; अपरंच प्रकृति ने उस के लिए वह उदारता नहीं दर्शायी है जो उसने अन्य जीवों के लिए की है; अतः अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्यों में पंचेन्द्रिय और कामादि षड्मनोविकार अधिक प्रबल रहते हैं।

इन पूर्वोक्त चार प्राकृतिक नियमों को मिला कर यह सिद्धान्त निकलता है कि अपनी चिति और विराट् का योगक्षेम करना, दैशिकधर्म को निभाते हुए, बिना किसी को हानि पहुँचाए अपना व्यक्तिगत हित साधन करना और उक्त दो कार्यों के विघ्नों को हटाना मनुष्य का प्राकृतिक हित कहा जाता है।

मनुष्य के प्राकृतिक हित की व्याख्या से मानवी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का अर्थ अच्छी तरह समझ में आ सकता है; और यह भी सिद्ध होता है कि मन में जो इच्छा उठे अथवा अपनी समझ में जो बात अच्छी हो उसके साधन में किसी का हस्तक्षेप न होने से सदा मनुष्य का प्राकृतिक हित नहीं होता है, और अपनी इच्छा और हित को पीछे रख कर दूसरे की इच्छा और हित के अनुसार चलने से सदा मनुष्य के प्राकृतिक हित में अन्तराय नहीं होता है।

मानवी स्वतन्त्रता के तीन अंग होते हैं :—

(१) शासनिक, (२) आर्थिक और (३) स्वाभाविक।

शासनिक स्वतंत्रता—शासक का प्रजा के प्राकृतिक हित में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना और सदा उस हित के लिए अनुकूल रहना शासनिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

आर्थिक स्वतन्त्रता—अर्थ का भाव रूप अथवा अभाव रूप से मनुष्य के प्राकृतिक हित में विघ्न न करना आर्थिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

स्वाभाविक स्वतन्त्रता—जो काम किसी के प्राकृतिक हित के प्रतिकूल न हो उस काम को करने में किसी का किसी प्रकार से हस्तक्षेप न होना स्वाभाविक स्वतन्त्रता कही जाती है।

मानवी स्वतन्त्रता के ये तीन अंग इस प्रकार मिले रहते हैं कि विना शासनिक स्वतन्त्रता के अन्य दो स्वतन्त्रताएँ हो नहीं सकतीं, विना आर्थिक स्वतन्त्रता के मनुष्य की स्वाभाविक स्वतन्त्रता निभ नहीं सकती, विना स्वाभाविक स्वतन्त्रता के अर्थ मनुष्य को भाव और अभाव दोनों रूपों में महा परतन्त्र कर देता है, विना स्वाभाविक और आर्थिक स्वतन्त्रता के मनुष्य का ध्यान शासनिक स्वतन्त्रता की ओर नहीं जाता और जो गया भी तो उस की प्राप्ति के लिए वह कुछ कर नहीं सकता।

विना इन तीन प्रकार की स्वतन्त्रताओं के कोई मनुष्य अपना प्राकृतिक हित-साधन नहीं कर सकता।

इति दैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये स्वातन्त्र्य-
निरूपणो नाम प्रथमाह्निकः।

द्वितीय आह्निक

शासनिक स्वतन्त्रता

शासनिक स्वतन्त्रता पुरुषार्थ रूपी शरीर का प्राण समझी जाती है, जैसे विना प्राण के शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता है एवं विना शासनिक स्वतन्त्रता के पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता है, और जैसे प्राणक्रिया के अभाव से सब अंग निष्फल और क्रियाशून्य हो जाते हैं एवं शासनिक स्वतन्त्रता के विना आर्थिक और स्वाभाविक स्वतन्त्रताएँ निष्फल और क्रियाशून्य हो जाती हैं। अतएव सब विद्वानों के मतानुसार मनुष्य के लिए शासनिक स्वतन्त्रता परमाभीष्ट पदार्थ समझी जाती है; किन्तु इसके साधन के उपाय भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

शासन दो प्रकार का होता है:—(१) स्वजातीय और (२) परजातीय।

हमारे आचार्यों के मतानुसार परजातीय शासन में शासनिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि शासक और शासितों की जातियाँ भिन्न होने से उन में स्वभावतः चितिविपर्यय होता है। चितिविपर्यय से उन में अर्थविपर्यय होना अनिवार्य होता है, और अर्थविपर्यय से शासक का प्रजा के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती होना स्वाभाविक होता है। यवनाचार्य अरिष्टोटल के अनु-

सार भी परजातीय शासन अप्राकृतिक-शासन समझा जाता है। अंग्रेज लोग भी इस सिद्धान्त को खूब समझे हुए हैं; अत एव वे इस महासागर में हड्डी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। हमारे आचार्यों ने परजातीय शासन को अप्राकृतिक समझ कर उसके विषय में बहुत नहीं कहा है, स्वजातीय शासन के विषय में उन्होंने बहुत कुछ कहा है। उनके मतानुसार पूर्ण शासनिक स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब राज्यरूपी रथ का सारथी ऐसा मनुष्य बनाया जाय जो वंशपरम्परा से दैवी-सम्पद्-युक्त हो, जिसके जन्मसंस्कार और सन्निकर्ष दैवी सम्पद् के अनुकूल हों और जिसको उन संस्कारों और उन सन्निकर्षों के अनुकूल शिक्षा मिली हो; और ऐसे ही मनुष्य उस रथ के धुर्य भी बनाये जायँ। अतः हमारे ऋषिगण ऐसे उपायों की खोज में लगे जिससे यथेष्ट सन्तानें उत्पन्न हों और वे यथेष्ट बनाए जा सकें। अन्त में आधिजननिक और आध्यापनिक शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। आधिजननिक शास्त्र से जैसी सन्तान चाहिए वैसी उत्पन्न की जा सकती थी, भगवान् विश्वामित्र और परशुराम की उत्पत्ति इसी शास्त्र के अनुसार हुई थी। अब इस शास्त्र का बिलकुल लोप हो गया है, केवल कहीं-कहीं प्रसंगवशात् इसके कोई पारिभाषिक शब्द देखे जाते हैं। आध्यापनिक शास्त्र के प्रताप से वैज्ञानिक रीति से मनुष्य जैसा चाहिए वैसा बनाया जा सकता है। प्राचीनकाल में इस शास्त्र का हमारे देश में बड़ा प्रचार था किन्तु अब इस का भी लोप हो गया है तथापि डूबते हुए सूर्य की अस्ताचलवर्तिनी लालिमा के समान इसकी आभा अभी विद्यमान है। ब्रह्मचर्य आश्रम इसी शास्त्र के अनुसार रचा गया था, जिसके पुनरुद्धार के लिए बार-बार चेष्टा की जा रही है। इन्हीं दो शास्त्रों के प्रताप से ऐसे शासक बनाये जाते थे जो हमारे आचार्यों के नर-रूप विष्णु, यवनाचार्य अरस्तू के श्रेष्ठगुणसम्पन्नव्यक्ति (men of transcendent virtue), जर्मन आचार्य निज्शे के अतिमानुष (abermensch or Supermen;) होते थे और वे ऐसे होते थे कि

"येनार्थवान् लोभपराङ्मुखेन, येन घ्नता विघ्नभयेन क्रियावान्
येनास लोकः पितृवान् विनेत्रा येनैव शोकापनुदेव पुत्री॥"

कौन ऐसे शासक को नहीं चाहेगा? ऐसा शासक अराजकवाद और अशासकवाद दोनों के लक्ष्य को सिद्ध कर देता था, उनको ऐसे शासक को निकाल देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती थी, ऐसे शासक के शासनकाल में शासनिक स्वतन्त्रता सोलह कलाओं से विराजमान रहती थी।

हमारे आचार्यों के अनुसार शासनिक स्वतन्त्रता का मूल कारण है राजा का त्यागी होना। इसी सिद्धान्त को आचार्य प्लेटो ने इस प्रकार कहा है कि शासन की स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है कि जब शासक शासन करना न चाहे। प्लेटो के

इसी सिद्धान्त के अनुसार यूरप में नृपासनों को कण्टकमय बना देने का यत्न होने लगा जिसके कारण शासक शासन करना न चाहे और क्रमशः राजाओं का बल संहरण और उनकी पदच्युति होने लगी। टारक्विन और ज्यूलियस सीजर के वध से लेकर सुल्तान अब्दुलहमीद की पदच्युति और जार निकलस द्वितीय के अन्तर्गत तक सब प्लेटो के इसी सिद्धान्त के फल हैं; अराजकवाद और अशासकवाद भी इसी के परिणाम हैं। किन्तु प्लेटो के उक्त सिद्धान्त के तात्पर्य के विषय में शङ्का उठती है; यदि उनका और हमारे आचार्यों का तात्पर्य एक ही था तो यह कहना पड़ता है कि यूरप में उक्त सिद्धान्त का दुरुपयोग हो रहा है; यदि उसका वही तात्पर्य था जैसा आधुनिक यूरप समझ रहा है तो यह प्रश्न उठता है कि शासक शब्द का अभिप्राय क्या है? यदि उसका अभिप्राय राजा से है तो एक राजा का बल संहरण करने या उसको निकाल देने से क्या होगा, जब कि छोटे-बड़े राजकर्मचारियों का उत्पात ज्यों का त्यों बना रहे, क्योंकि प्रजा के दुःख के हेतु बहुधा ये ही लोग हुआ करते हैं न कि राजा; यदि शासक शब्द का अभिप्राय समस्त अधिकारी-वर्ग से है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी असात्विक काल में कोई समाज बिना शासक के चल सकता है? अथवा इस बात का क्या निश्चय कि जो दूसरे अधिकारी लोग चुने जायेंगे वे सब महात्मा होंगे, वे शासन करना नहीं चाहेंगे, उनके समय में पूर्ण शासनिक स्वतन्त्रता रहेगी? क्योंकि जिस समाज में दैवीसम्पद् नहीं होती उसकी बागडोर बहुधा ऐसे लोगों के हाथ में रहती है जिनमें छलबल बहुत होता है, इसी कारण प्लेटो अपने समय की डिमोक्रसी से अप्रसन्न थे, इसी कारण उनका अपने देश में अपनी राज्य-कल्पना असम्भव जान पड़ी, इसी कारण रूसी रिपब्लिक में सदा मारपकड़ मची रही, इसी कारण यूरप में पहले क्थालिक और प्रोटेस्टण्टों के रक्त की धारा बही, फिर वहाँ राजा और प्रजा में तलवारें खिंची, अब वहाँ साहूकार और मजदूरों में खींचातानी होने लगी है; और अग्रे किं किं भविष्यति। बिचारा योरप स्वतन्त्रता के लिए परिवर्तन रूपी समुद्र में बार-बार गोता लगाता रहा किन्तु मुराद का मोती उसको कभी न मिला, जितना वह स्वतन्त्र होने का यत्न कर रहा है उतना वह परतन्त्रता के पङ्क में धँसता जा रहा है, उतना वह ग्राम्यसुखों को बागुरा में उलझता जा रहा है, उतनी उसकी जीवनयात्रा कष्टसाध्य हो रही है। भूतविज्ञानविशारद यूरप की अवैज्ञानिक दैशिक नीति का ऐसा ही परिणाम होना है, यह बात अनेकों को बहुत पहिले से मालूम थी, अब महासमर ने सबकी आँखें खोल दी हैं, जिनकी आँखें अब भी नहीं खुलीं उनकी अब कभी नहीं खुलेंगी।

इन पूर्वोक्त बातों से सिद्ध यह होता है कि दैवीसम्पद् के समष्टिगत हुए बिना कोई शासकहीन समाज चल नहीं सकता; किन्तु समस्त समाज को दैवीसम्पद्युक्त बनाने की अपेक्षा एक शासक को दैवीसम्पद्युक्त बनाना बहुत सरल और सुसाध्य

होता है; फलतः यह सिद्ध होता है कि शासनिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति की पाश्चात्यों की रीति से हमारे आचार्यों की रीति सहस्रधा श्रेष्ठ और सुकर है। आचार्य अरिष्टोटल के मतानुसार भी राज्य के गुण और दोष शासक पर निर्भर होते हैं; जैसा शासक होता है वैसा राज्य होता है किन्तु शील का आवाहन करने और सत् शिक्षा देने से शासक श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। किन्तु हमारे आचार्यों के मतानुसार दैवीसम्पद्-हीन मनुष्य में शील पंगु और शिक्षा वन्ध्या होती है।

हमारे और पाश्चात्यों के उपायों में चाहे भेद हो किन्तु दोनों के अनुसार मनुष्यों के लिए शासनिक स्वतन्त्रता परमाभीष्ट पदार्थ है, जितनी शासनिक स्वतन्त्रता अभीष्ट है उतनी शासनिक परतन्त्रता अनभीष्ट है। यह परतन्त्रता तीन बातों के संयोग से होती है:—समष्टिगत तामस, सत्संस्कारों का अभाव और विपरीतार्थीराज्य के संयोग से।

समष्टिगत तामस—समष्टिगत तामस से सारी जाति की बुद्धि विपरीत हो जाती है, उसको सब बातें उलटी सूझने लगती हैं, उसकी समस्त चेष्टाएँ विपरीत होने लगती हैं जिसके कारण नीचों का अभ्युदय और महात्माओं का अवपात होने लगता है, ज्यों ज्यों परतन्त्रता के पाश बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों लोग अपने को स्वतन्त्र समझने लगते हैं। आसुरी बातें आसुरी सम्पद् के लिए अनुकूल होने लगती हैं, सरासर दैवीसम्पद् का ह्रास और आसुरी सम्पद् की वृद्धि होने लगती है; ज्यों ज्यों आसुरी सम्पद् की वृद्धि होती है त्यों त्यों बन्धनों की भी वृद्धि होती जाती है क्योंकि **"दैवी-सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।"**

सत्संस्कारों का अभाव—सत्संस्कारों के अभाव से लोगों में बड़े कामों को करने की रुचि और योग्यता, तत्प्रतिकूल कारणों को निवारण करने की शक्ति नहीं रहती, तामसी सुख की ओर उनकी प्रवृत्ति होने लगती है, उनमें एक प्रकार की तामसी सहिष्णुता आ जाती है, इन सब कारणों से उनमें किसी प्रकार के बन्धनों को काटने की रुचि और शक्ति नहीं रहती।

विपरीतार्थी राज्य—यदि राज्य विपरीतार्थी न हो तो केवल समष्टिगत तामस और संस्कारों के अभाव से शासनिक परतन्त्रता नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रजा चाहे तामसी और सत्संस्कारहीन हो किन्तु जब तक राज्य का प्रजा से अर्थ-विपर्यय नहीं होता है तब तक राज्य प्रजा के प्राकृतिक हित में हस्तक्षेप नहीं करता है, प्रजा के हित में राज्य का हस्तक्षेप न होने से शासनिक परतन्त्रता नहीं हो सकती। जब राज्य का प्रजा से अर्थ-विपर्यय होता है तब राज्य का अपने स्वार्थ के योगक्षेम के लिए प्रजा के प्राकृतिक अर्थ को नाश करना स्वाभाविक होता है। अतः राज्य प्रजा के प्राकृतिक हित में हस्तक्षेप करता रहता है, किन्तु जब तक प्रजा सब प्रकार से

दीन हीन न हो तब तक अल्प व्यक्तिक राज्य की बहुव्यक्तिक प्रजा से कुछ चल नहीं सकती, अतः विपरीतार्थ राज्य से प्रजा को दीन हीन बनाने के लिए शासनिक परतन्त्रता की बागुरा अत्यन्त आवश्यक होती है, जिससे प्रजा राज्य के प्रतिकूल सिर न उठा सके। अतः विपरीतार्थी राज्य शासनिक परतन्त्रता का मुख्य हेतु समझा जाता है।

हमारे आचार्यों के अनुसार शासनिक स्वतन्त्रता के मुख्य हेतु ये हैं :—

(१) उत्तम कुल के उत्तम दायिक और सान्निकर्षिक संस्कार वाले उत्तम पुरुषों के हाथ में शासन देना। ऐसे उत्तम शासक आधिजननिक और आध्यापनिक शास्त्रों के द्वारा बनाए जाते थे।

(२) शासक के हाथ में, चाहे वह कैसा ही श्रेष्ठ क्यों न हो, स्मृति रचना का काम न होना। वह काम ब्रह्मपरायण उत्तम त्यागी ब्राह्मणों के हाथ में होना। हमारी जितनी स्मृतियाँ हैं वे सब ऋषिमुनियों की रची हुई हैं।

(३) शासक का मुख्य कर्त्तव्य वर्णाश्रम का पालन करना होना।

(४) समस्त संन्यासी, वानप्रस्थी ब्राह्मण और ब्रह्मचारियों से शासक का गौरव कम होना; इस उपाय से शासक को अभिमान और आसक्ति होने नहीं पाती थी। आचार्य प्लेटो के मतानुसार भी आसक्ति न होने से ही शासक उत्तम होता है।

(५) ब्रह्मचर्याश्रम प्रथा से प्रजा को तेजस्वी बनाना; क्योंकि तेजस्वी प्रजा की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का किसी शासक का साहस नहीं हो सकता।

इन उक्त उपायों से राजवादी और अराजवादी दोनों का अर्थ सिद्ध हो जाता है, राजवादियों को आदर्शरूप राजा और अराजवादियों को पूर्ण शासनिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।

इति दैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये शासनिक–
स्वातन्त्र्यिको नाम द्वितीयाह्निकः।

तृतीय आह्निक

आर्थिक स्वतन्त्रता

शासनिक स्वतन्त्रता जिस पौरुष रूपी शरीर का प्राण है आर्थिक स्वतन्त्रता उसकी रीढ़ है। जैसे बिना रीढ़ के शरीर खड़ा नहीं रह सकता वैसे बिना आर्थिक

स्वतन्त्रता के कोई मनुष्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता। आर्थिक रूप से परतन्त्र रहने से मनुष्य का ध्यान पुरुषार्थ की ओर जाता ही नहीं, और जो गया भी तो उसमें हाथ डालने का साहस नहीं होता। अन्नवस्त्र की चिन्ता अथवा भोग-विलासों की आसक्ति उसको एक प्रकार से नपुंसक बना देती है, अपरंच आर्थिक परतन्त्रता के कारण किसी समाज की शासनिक स्वतन्त्रता बहुत दिनों तक नहीं निभ सकती, प्रतिक्षण उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता के पतन का अन्देशा रहता है। कहा जाता है कि इसी आर्थिक परतन्त्रता के कारण एक बार मेवाड़-रत्न राणाप्रताप भी मुगल बादशाह के सामने मस्तक नवाने को उद्यत हो गये थे, इसी कारण हमारे अनेक युवक जो स्कूलों और कालेजों में शेर के से बच्चे दिखाई देते हैं ग्रहस्थी में प्रवेश करते ही निरे गाड़ी के बैल बन जाते हैं, इसके कारण मनुष्य की प्रवृत्ति नीच कामों की ओर हो जाती है। व्यभिचार को छोड़ और जितने नीच कर्म होते हैं उन सब का कारण प्रायः यही परतन्त्रता है। अतः समष्टिरूप और व्यष्टिरूप से प्रजा की आर्थिक स्वतन्त्रता बनाए रखना राज्य का परमधर्म समझा जाता है, इसी कारण हमारे अर्थशास्त्र की उत्पत्ति हुई थी, कालक्रम से हमारे इस शास्त्र का भी लोप हो गया है। इस शास्त्र के अनुसार हमारा समाज ऐसा रचा गया कि जिसके प्रभाव से वर्षों से विविध प्रतिकूल कारणों के होते हुए भी हमारे देश की आर्थिक अवस्था अब तक कुछ अंशों में ज्यों की त्यों बनी हुई है, जिसका अब दिन-प्रतिदिन त्वरित गति से लोप होता जा रहा है।

इस स्वतन्त्रता का तात्पर्य समझने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ का तत्व समझा जाय। साधारणतः अर्थ उस वस्तु को कहते हैं जो मनुष्यों के जीवन के लिए आवश्यक हो; किन्तु अर्थशास्त्र में स्वच्छन्दरूप से अनायास प्राप्त होने वाली वस्तु को अर्थ नहीं कहते हैं, यथा वायु, जल, तेज इत्यादि। अर्थशास्त्र में केवल वही वस्तु अर्थ कही जाती है जो साधारणतः उद्यम से प्राप्त होती है और मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक अथवा आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली होती है। जो वस्तु उद्यम से प्राप्त हो किन्तु न तो वह मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक हो और न उससे ऐसी वस्तु प्राप्त हो सके जो मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक है, वह अर्थ नहीं कही जाती है; यथा मिस्र के स्तूप। हाँ, यदि उन स्तूपों की ईंटें बिकने लगें तो वे अर्थ कहे जाने लगेंगे। जो वस्तु मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक हो किन्तु बिना किसी मनुष्य के उद्यम के प्राप्त हो सके वह भी अर्थ नहीं कही जाती है, यथा जल। यदि उसी जल-प्राप्ति के लिए उद्यम करना पड़े, तो वह अर्थ समझा जाने लगता है; यथा मारवाड़ प्रदेश में।

अर्थ दो प्रकार का होता है :—

(१) मुख्य अर्थ अथवा धन, और (२) गौण अर्थ अथवा द्रव्य।

जो वस्तु मनुष्य जीवन का आधार होती है अथवा ऐसी वस्तु को उत्पन्न करती है वह मुख्य अर्थ अथवा धन कही जाती है; यथा अन्न, वस्त्र, गो, भूमि इत्यादि।

जो वस्तु मुख्य अर्थों के विनिमय का साधनमात्र होती है वह गौण अर्थ अथवा द्रव्य कही जाती है; यथा अशर्फी, रुपया, इत्यादि।

अर्थ का किसी रूप से मानवी स्वतन्त्रता का प्रतिघाती न होना आर्थिक स्वतन्त्रता कही जाती है। हमारे वैदिकशास्त्र के अनुसार बिना मुख्यअर्थ-सम्बन्धी स्वतन्त्रता के आर्थिक स्वतन्त्रता केवल गौण अर्थ के प्राचुर्य से प्राप्त नहीं हो सकती है।

अर्थ मानवी-स्वतन्त्रता का प्रतिघाती तीन प्रकार से होता है :—

(१) अभावरूप से, (२) संगोत्पादक रूप से, और (३) निर्निमित्त रूप से।

जब अर्थाभाव से मनुष्य को अन्नवस्त्र की चिन्ता लगी रहती है, आजीविका-प्राप्ति में उसके समय और प्राणशक्ति का अधिकांश चला जाता है, अन्नवस्त्र के लिए उसको दूसरों के भरोंसे रहना पड़ता है, अपने विचारों को दबाकर दूसरों की हां में हां मिलानी पड़ती है तब अर्थ का अभाव रूप से स्वतन्त्रता का प्रतिघाती होना कहा जाता है। अर्थ का इस प्रकार स्वतन्त्रता का प्रतिघाती होना अभावज पर-तन्त्रता कही जाती है, यह मनुष्य की महाशत्रु होती है, यह उसको मनुष्य चोले का धर्म निभाने नहीं देती, उसको कोल्हू का बैल बनाए रखती है, इसी के कारण आचार्य द्रोण को कौरवों की दरबारदारी करनी पड़ी थी।

इस परतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) **कृषि और गोरक्षा की उपेक्षा**—मनुष्य का जीवन मुख्य रूप से अथवा गौण रूप से कृषि और गोरक्षा पर निर्भर होता है, जब किसी कारण अर्थ-नाश हो जाता है तब ये ही दो पदार्थ उसको पूर्ण करते हैं, इन्हीं से समस्त प्रकार के अन्नादि प्राप्त होते हैं, इन्हीं को खरीदने के लिए मनुष्य का द्रव्य की आवश्यकता होती है। जब इनका अभाव हो जाता है तब द्रव्य बिलकुल निरर्थक हो जाता है, क्योंकि वह खाने-पीने की वस्तु तो है नहीं। अभाविक परतन्त्रता के साथ जहाँ कृषि और गोरक्षा की उपेक्षा होने लगती है वहाँ राजा और प्रजा दोनों की इतिश्री हुई समझ लेनी चाहिए।

(२) **नौकरी के चलन की तेजी**—इस कुचलन से सब का ध्यान नौकरी की ओर चला जाता है, फलतः कृषि, गोरक्षा और अन्य आवश्यक व्यवसायों की उपेक्षा हो जाती है, जिससे अन्न, वस्त्रादि की उत्पत्ति आवश्यकता से कम हुआ करती है; अतः वस्त्रादि का भाव सदा चढ़ा रहता है; एवं समाज में सदा अभावजन्य परतन्त्रता बनी रहती है।

(३) **भोग-विलास के पदार्थों का आधिक्य**—मनुष्य में इन्द्रियाँ स्वभावतः प्रबल होती हैं, अनुकूल पदार्थों के सन्निकर्ष से ये और भी अधिक प्रबल हो जाती हैं; कोई तो इस प्रकार भोग-विलास के पदार्थों की ओर खिचते हैं और कोई चलन की हवा से इनकी ओर खिच जाते हैं; अतः ऐसे पदार्थों की खपत अधिक होने लगती है, जिससे उत्पादन भी इनका अधिक होने लगता है। अतः इन पदार्थों के उत्पादन में अधिक मनुष्य लग जाते हैं, जिससे कृषि, गोरक्षा आदि आवश्यक कामों के लिए पर्याप्त मनुष्य न होने से समाज में अन्न का घाटा रहता है।

(४) **कुराज और कुशासन**—इनके कारण लूट-खसोट का बाजार भिन्न-भिन्न रूप से सदा गरम रहा करता है, जिसके कारण प्रजा को एक प्रकार का आर्थिक अतिसार हो जाता है।

(५) **अपनी आर्थिक व्यवस्था से बढ़ कर काम करना**—ऐसा काम करने वाले को सदा ऋण लेना पड़ता है, ऋण की शीघ्र चुकौती न होने से वह ब्याज से दबता जाता है, एवं उसकी आर्थिक अवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जाती है, एक-दो बार ऐसे काम करने से फिर उसका अभाविक परतन्त्रता के पाशों से मुक्त होना कठिन हो जाता है।

(६) **कुसङ्ग**—इससे मनुष्य द्यूतादि अनेक दुर्व्यसनों को सीख लेता है जिसका अवश्यंभावी परिणाम दारिद्र्य होता है।

(७) **आलस्य और इन्द्रियपरता**—आलस्य के कारण मनुष्य कुछ उपार्जन नहीं कर सकता और इन्द्रियपरता से वह अपव्ययी हो जाता है, अतः आलस्य और इन्द्रियपरता के संयोग से शीघ्र दारिद्र्य उपस्थित हो जाता है।

(८) **स्त्री में रजोगुण और पुरुष में तमोगुण का आधिक्य होना**—इस विपरीत संयोग से स्त्री अपने पति को कोल्हू का बैल बना देती है, अथवा घर में सदा दाँत बजा करते हैं; उभयतः पुरुष निस्तेज और श्रीहत हो जाता है। ऐसे घर में लक्ष्मी का वास नहीं हो सकता।

(९) **परिवार के लोगों में ऐक्य न होना**—इससे कमाई करने वाले व्यक्ति कमाई के धन को कुटुम्ब के संहत भण्डार में न रखकर अलग-अलग अपने पास रखने लगते हैं; फलतः कुटुम्ब के लोगों में वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है, सब छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तब उन सब को अपने-अपने गुजारे की सूझने लगती है। जीवन-यात्रा की मीमांसा सब की सुध उड़ाये रखती है; अतः सबको चिन्ता और बेफुरसती रहती है।

बहुधा यह देखने में आता है कि अर्थ-वृद्धि के साथ मनुष्य या तो तृष्णासङ्ग-जन्य अथवा भोगविलासजन्य दौर्बल्य से परतन्त्र हो जाता है। कारण इसका यह है

कि अर्थ बहुत संग उत्पन्न कर देता है, कभी तो केवल अपने में और कभी विषय भोगों में। जब मनुष्य का संग केवल अर्थ में होता है उसकी बुद्धि रागात्मक हो जाती है, अर्थ की तृष्णा और अर्थ के संग से मनुष्य निन्यानवे के फेर में पड़ जाता है जिससे उसको अभीष्ट और अनभीष्ट कामों का ज्ञान नहीं रहता, उसको सदा द्रव्यसंचय की धुन लगी रहती है, इसके अतिरिक्त और किसी बात में उसका ध्यान जाता ही नहीं। फलतः वह अपने प्राकृतिक हित साधन के योग्य नहीं रहता। ऐसे ही लोग देशघाती और विश्वासघाती होते हैं; किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सब ही धनवान् ऐसे होते हैं। मनुष्य की ऐसी नीच प्रकृति होती है अर्थसङ्ग से न कि अर्थ से। जब मनुष्य का अर्थ में संग नहीं होता तब उसकी बुद्धि में रागजनित विकार उत्पन्न नहीं होते चाहे उसके पास कितना ही धन क्यों न हो; निःसङ्ग राजा जनक का एक बड़े राष्ट्र में भी राग उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु ससंग शुक का एक कौपीन में राग उत्पन्न हो गया। निःसंग राजा मोरध्वज को पुत्र का मोह नहीं हुआ, किन्तु ससंग जड़भरत को एक मृग के बच्चे का मोह हो गया। त्यागी भामाशाह ने उदयपुर की डूबती हुई नौका को उतार दिया, किन्तु रागी चूड़ामल ने जीती हुई भरतपुर की बाजी खो दी। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य परतंत्र होता है अर्थसङ्ग से, न कि अर्थ से।

और जब अर्थ के प्रभाव से मनुष्य का संग विषयभोगों से होने लगता है तब उसका मन दावानल के समान हो जाता है, ज्यों-ज्यों उसमें अर्थरूपी ईंधन पड़ते जाते हैं त्यों-त्यों विषयतृष्णा-रूपी अग्नि बढ़ती जाती है, ऐसा मनुष्य इन्द्रियों का दास हो जाता है, उसको इन्द्रियरूपी देवताओं को पूजने के लिए सदा अर्थरूपी फूलों की चिन्ता बनी रहती है, अर्थ-प्राचुर्य के होते हुए भी ऐसे मनुष्य को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, जो हुई भी तो बालू के भीत के समान बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकती। भगवती प्रकृति का यह सनातन नियम है कि पौरुष और विलास एक साथ नहीं रह सकते। पौरुष के न होने से किसी को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती और जो हुई भी तो उसका दुष्प्रयोग होता है। अर्थ का इस प्रकार स्वतन्त्रता का प्रतिघाती होना सांगिक परतन्त्रता कही जाती है। इसी के कारण राजा नहुष ने इन्द्रासन से हाथ धोए और वाजिदअली शाह ने अवध की नवाबी खोयी। हमारे आचार्यों के मतानुसार यह परतन्त्रता सबसे भयङ्कर होती है। एक बार इसमें पड़ जाने से फिर निस्तार होना प्रायः असम्भव हो जाता है। आचार्य अरस्तू के मतानुसार भी यह परतन्त्रता अभाविक परतन्त्रता की अपेक्षा अधिक अनर्थकारिणी होती है। यह परतन्त्रता जब प्रजागत होती है तब जाति का अवपात होने लगता है, जब यह शासकगत होती है तब प्रजापीड़न और विप्लव होने लगते हैं और जब यह उभयगत होती है तब स्वराज्य का लोप हो जाता है।

इस परतन्त्रता के मुख्य कारण हैं :—

(१) **धन का मान होना**—मनुष्य को पेट भरने और शरीर ढकने के लिए बहुत धन नहीं चाहिए, थोड़े उद्योग से उसकी जीवनयात्रा चल सकती है, किन्तु मनुष्य स्वभावतः मानाहारी है, अतः जब वह देखता है कि धन से मान प्राप्त होता है तब वह धनसञ्चय करने में प्रवृत हो जाता है, कालान्तर में उसको निरुद्देश्य और अनावश्यक धन-संचय का दुर्व्यसन हो जाता है।

(२) **धन का अनुचित प्रभाव होना**—जब किसी समाज में धन का अनुचित प्रभाव होता है तब उसमें दुर्गुणी धनवान् का मान और सद्गुणी-निर्धन का अपमान होने लगता है। धनवान् के लिए सर्वत्र सब मार्ग खुले रहते हैं और दरिद्री के लिए सब रास्ते बन्द रहते हैं। धन के प्रभाव से सत्य का असत्य, और असत्य का सत्य होने लगता है, तब ऐसी अवस्था में मनुष्यों का धनपरायण होना स्वाभाविक होता है।

(४) **दण्डनीति की वृद्धि और व्यवहारनीति का महार्घ होना**—जब दण्डनीति की वृद्धि होती है तब बात-बात में लोगों की धर-पकड़ होने लगती है और अभियुक्तों को अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए अदालत रूपी यज्ञवेदी में बहुत धन हवन करना पड़ता है। और जब व्यवहारनीति ऐसी हो जाती है कि धन का व्यय किये बिना लोगों के स्वत्वों का योग-क्षेम नहीं हो सकता तब धन पर लोगों का बड़ा भरोसा हो जाता है। उभयतः लोग धन को अपना इष्टदेव समझने लगते हैं।

(५) **राज्य और उसके अधिकारी वर्गों की धन-परायणता**—जब ऐसा होने लगता है तब बात-बात में प्रजा की थैली कटने लगती है। बिना थैली वालों का काम चलना कठिन हो जाता है, उनके लिए चारों ओर काँटे बिछ जाते हैं। धन का अनुचित प्रभाव और अत्यन्त मान होने लगता है, दण्डनीति की वृद्धि और न्याय का नीलाम होने लगता है, राज्य पर लोगों का भरोसा नहीं रहता; अतः मनुष्य धनोपार्जन को अपना परम धर्म समझने लगते हैं; ऐसा होना स्वाभाविक बात है, क्योंकि मनुष्य को प्रकृति ने भविष्य की चिन्ता करनेवाला जीव बनाया है। इन्हीं कारणों से राजा भर्तृहरि ने धनपरायण प्रभु को अपने हृदय का शल्य कहा है।

(६) **व्यापार की अतिशय वृद्धि**—व्यापार की वृद्धि से भोग-विलास की वस्तुओं का प्रचार, विनिमय प्रथा का ह्रास, द्रव्य की क्रयशक्ति की वृद्धि और द्रव्य का अधिक प्रयोग होने लगता है। इन कारणों से द्रव्य में मनुष्य को बड़ा भरोसा हो जाता है। साथ-साथ इस भरोसे के द्रव्य के सुधार्य और सुवाह्य होने से मनुष्य का द्रव्य में राग उत्पन्न हो जाता है। जो वस्तु दुर्धार्य और दुर्वाह्य होती है कोई उसका संचय नहीं करता है; अतः उसमें किसी का सङ्ग नहीं होता। यदि किसी राज्य में द्रव्य के बदले धन में वेतन चुकाया जाने लगे और उस धन के खरीदने वाले भी

बहुत कम हों तो उस राज्य का कोई कर्मचारी आवश्यक से अधिक वेतन नहीं लेगा, न उस राज्य में वृद्धि के लिए कोहराम मचेगा। दुर्धार्य और दुर्वाह्य होने से सरकारी हुण्डियों की चोरी नहीं होती, ऐसा होने से कोई धन का अनावश्यक सञ्चय नहीं करता। इससे अनुमान यह होता है कि सांङ्गिक परतन्त्रता का मूल कारण है द्रव्य, और द्रव्य का अतिप्रचार होता है व्यापार वृद्धि से।

(७) **परिचर्यात्मक वृत्ति**—परिचर्या से मनुष्य की वृत्ति मलिन हो जाती है। मलिन बुद्धि वाला नैसर्गिक सुख का अनुमान नहीं कर सकता, निरुद्देश्य द्रव्यसञ्चय को ही वह परम सुख समझे रहता है। अतएव बहुधा यह देखने में आता है कि परिचर्यावृत्तिवालों की अपेक्षा स्वतन्त्रवृत्ति वाले अधिक निःसङ्ग होते हैं और अधिक सात्विक दान करते हैं।

(८) **सन्तानोत्पत्ति का आधिक्य**—इसके कारण मनुष्य तङ्ग रहता है; अतः उसको सदा धनोपार्जन की धुन लगी रहती है।

(९) **विकार हेतुओं के सामीप्य के साथ दम और तितिक्षा की न्यूनता**—जब विकार हेतु उपस्थित होते हैं तब इन्द्रियाँ स्वभावतः उनकी ओर खिंचने लगती हैं। दम और तितिक्षा की न्यूनता के कारण मनुष्य अपने को रोक नहीं सकता, जितना उसके पास धन होता है उतना वह भोग-विलास में लिप्त होता है।

जब अर्थ अभावरूप और सङ्गात्पोदक रूप से मानवी स्वतन्त्रता का प्रतिघाती नहीं होता तब मनुष्य जो चाहे कर सकता है, उसको प्रचुर समय और यथेष्ट अवकाश मिल जाता है, जिससे उसको जैसे एक प्रकार का यथेष्टगामी विमान प्राप्त हो जाता है; किन्तु इस अद्वितीय विमान को प्राप्त करके मनुष्य एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता, वह या तो ऊपर चढ़ता जाता है अथवा नीचे को गिरता जाता है। निमित्त-रूपी प्रेरक के बिना यह विमान मनुष्य को प्रमाद और आलस्य में गिरा देता है जिससे उसमें तामस भर आता है, तामस से वह अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ जाता है। जब मनुष्य की जीवन-यात्रा अनायास चलती जाती है और उसे अधिक धन अथवा विषय भोगों की इच्छा नहीं होती तब वह निरुद्देश्य हो जाता है। निरुद्देश्य होने से वह उद्यमहीन हो जाता है; फलतः उसकी प्रवृत्ति तामसी होने लगती है। किन्तु उसके किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के साधन में लगे रहने से ऐसा होने नहीं पाता। अतः हमारे दैशिकाचार्यों के मतानुसार पूर्णभाविक स्वतन्त्रता उसे ही मिलनी चाहिए जिसे कोई श्रेष्ठ उद्देश्य साधन करना हो, न कि निरुद्देश्य मनुष्य को, ऐसे मनुष्य की भाविक स्वतन्त्रता का परिणाम समाज के लिए अहितकारी होता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार हमारे समाज में अर्थविभाग किया गया था, हमारे आचार्यों के अनुसार किसी निरुद्देश्य मनुष्य को पूर्णभाविक स्वतन्त्रता प्राप्त होने नहीं

देनी चाहिए। यदि किसी ऐसे मनुष्य के पास आवश्यकता से अधिक धन हो जाय तो उससे कोई यज्ञादि सत्कार्य कराके उस धन को निकलवा देना चाहिए, अन्यथा उसमें तामस आ जाता है। तमोगुण का स्वाभाविक धर्म है बन्धन में डालना। अतः निरुद्देश्य मनुष्य भाविक और नैसर्गिक स्वतन्त्रताओं के होते हुए भी गीजू के समान अपने लिए आप बन्धन रच लेता है। अर्थ के इस दोष को निर्निमित्तक परतन्त्रता कहते हैं। इस परतन्त्रता ने वैसे भारत को ऐसा भारत बनाया है। जब तक भारत ने अपनी भाविक और नैसर्गिक स्वतन्त्रता का कोई निमित्त समझ रखा था तब तक कोई उसकी ओर टेढ़ी नजर से देख नहीं सकता था, और जब वह निमित्त अन्तर्हित होने लगा तब भरी सभा में भारतरूपी द्रौपदी का चीर उतारा जाने लगा, किसी को उसे बचाने का साहस न हुआ; सरासर भारत का नाश होने लगा। भारत का ही क्या जिस धनाढ्य व्यक्ति अथवा सुसम्पन्न समाज का नाश होता है पहले उसमें निर्निमित्तक परतन्त्रता का घुन लग जाता है, तदनन्तर उससे समाज में प्रमाद और आलस्य का अथवा तृष्णा और सङ्ग का सञ्चार होता है।

इस परतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) **चिति का अन्तर्धान**—जैसे चैतन्य के सान्निध्य से प्राण जागृत होता है, प्राण की जागृति से भिन्न-भिन्न शक्तियों का आविर्भाव होता है; और चैतन्य के तिरोधान होने पर प्राण अन्तर्लीन हो जाता है और प्राण के अन्तर्लीन होने पर सब शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं, एवं चिति के उदयापवाद के साथ विराट् का भी उदयास्त होता है। विराट् के उदयास्त के साथ अन्य सब जातीय शक्तियों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, प्रचण्ड दैशिकधर्म से लेकर प्रशान्त काव्यकलाप तक सब उसी चिति के रूपान्तर होते हैं। जब किसी जाति की चिति का लोप होता है तब उसका आदर्श आहार, निद्रा, मैथुन के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता है, इन्हीं के साधन में उसकी अधिकांश शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

(२) **तामसी प्रवृत्ति**—जैसी मनुष्य की प्रवृत्ति होती है वैसी उसकी प्रेरणा और वैसा उसका कर्म-संग्रह होता है, अर्थात् ज्ञान-ज्ञेय-परिज्ञाता, कर्म, कर्त्ता और कारण सब तामसी हो जाते हैं, जिससे मनुष्य एक ही बात को सर्वस्व समझे हुए निष्कारण और बिना उसके तत्त्वार्थ के जाने उसमें लौलीन होकर बिना अनुबन्ध पौरुष-क्षय और हिताहित का विचार किए बिना काम करने लगता है; उसमें चपलता, स्थूल-बुद्धि, विचाराभाव, ठगपन, स्वार्थ, आलस्य, विषाद, दीर्घसूत्रता, उलटीबुद्धि आ जाती है, वह सदा मोह में फँसा हुआ निद्रा, आलस्य, प्रमाद की लोरियों में ऊँघता रहता है। ऐसे मनुष्य के लिए दिन काटने और पेट पालने के अतिरिक्त अन्य कोई काम नहीं होता।

(३) तामसी सन्निकर्ष—जैसे मनुष्य के सन्निकर्ष होते हैं, जैसे लोगों के साथ उसका उठना-बैठना होता है वैसा वह आप हो जाता है, जैसा मनुष्य होता है वैसा उसका आदर्श होता है; अतः तामसी सन्निकर्षों के बीच मनुष्य का आदर्श ऊँचा नहीं होता।

(४) चिन्ता और व्याधि—चिन्ता और व्याधि से चित्त सदा अप्रसन्न रहता है, अप्रसन्न चित्त में तृष्णा और मनोरथ के अतिरिक्त और कोई आदर्श समा नहीं सकता।

जैसे आर्थिक परतन्त्रता तीन प्रकार की होती है वैसे आर्थिक स्वतन्त्रता भी तीन प्रकार की होती है :—(१) भाविक, (२) नैसर्गिक और (३) नैमित्तिक।

अर्थ का अभाव न होना, अपनी आजीविका अपने वश में होना, थोड़े समय और अल्प प्रयास से जीवन-यात्रा का चल सकना भाविक स्वतन्त्रता कही जाती है। इस स्वतंत्रता से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती चिन्तारूपी बड़ा विघ्न हट जाता है।

मनुष्य का अर्थ में अथवा विषयभोगों में संग न होना नैसर्गिक स्वतन्त्रता कही जाती है। इस स्वतन्त्रता से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती रागरूपी विघ्न दूर हो जाता है, यह स्वतन्त्रता प्राप्त होती है त्याग और दम से, त्याग से मनुष्य का किसी वस्तु में सङ्ग उत्पन्न नहीं होने पाता, और दम से उसके मन में विषयतृष्णा उत्पन्न नहीं होती है। अपरञ्च इन दो गुणों से मनुष्य की बुद्धि ठीक रहती है जिस के कारण वह अर्थ के प्रयोजन को भली प्रकार समझ सकता है और अनावश्यक अर्थ-सञ्चय का उसको व्यसन होने नहीं पाता।

भाविक और नैसर्गिक स्वतन्त्रताओं का उपयोग किसी श्रेष्ठ निमित्त के साधनार्थ होने से मनुष्य में प्रमाद और आलस्य का न आना नैमित्तिक स्वतन्त्रता कही जाती है। इस स्वतन्त्रता से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती मोह-रूपी विघ्न हट जाता है।

इन्हीं तीन प्रकार की स्वतन्त्रताओं के सङ्गम से पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता बनती है। **केवल अर्थप्राचुर्य से किसी को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती।** इन दिनों हमारे कॉलेजों में पढ़ाये जाने वाले अर्थशास्त्र का यह भाव पाया जाता है कि द्रव्य-प्राचुर्य से पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। कदाचित् इसी भ्रान्ति में पड़ कर इङ्गलिस्तान की ऐसी शोचनीय आर्थिक अवस्था हुई है चाहे इङ्गलिस्तान के भण्डार सोने से भरे पड़े हों, चाहे देशदेशान्तरों की मुकुटमणियों से उसके पदपङ्कज जग-मगा रहे हों; किन्तु वास्तव में उसकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है, आर्थिक रूप से वह भारत के अधीन है। यह अधीनता उसकी आर्थिक कल्पनाओं की भूल का परिणाम

है। अब उसको अन्न की चिन्ता होने लगी है, अब उसको अपने तीस लाख एकड़ जमीन में, कृषि करने की चिन्ता होने लगी है, अब उसको अपनी प्रमोदकाननों में आलू बोने की सूझने लगी है। इस अर्थशास्त्र का खमीर अब भारत में भी फैलने लगा है और उसका अर्थशास्त्ररूपी सूर्य अस्ताचलचूड़ावलम्बी हो चला है, अब केवल उसकी अन्तिम लालिमा कहीं-कहीं देखने में आती है।

हमारे अर्थशास्त्र के अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) **कृषि और गोरक्षा का गौरव**—शरीरयात्रा के लिए मुख्य पदार्थ हैं अन्न और वस्त्र, ये प्राप्त होते हैं मुख्य रूप से अथवा गौण रूप से भगवती वसुधरा से, इससे जो कुछ कमी रह जाती है उसको पूरा करती है गोमाता। इन दोनों की सेवा से माई अन्नपूर्णा सदा प्रसन्न रहती हैं, सदा भाविक स्वतन्त्रता बनी रहती है, अतएव हमारे आचार्यों ने अपने देश को कृषिप्रधान और अपनी जाति को गोभक्त बनाया है। इन्हीं दो बातों ने इस समय भारत की लाज रखी है, नहीं तो भारत में इस समय कौड़ी के तीन-तीन गुलाम बिका करते।

(२) **वाणिज्य को कृषि और गोरक्षा से नीचा स्थान देना**—द्रव्य के बिना वाणिज्य दुष्कर होता है, वाणिज्य को सुगमतापूर्वक चलाने के लिए द्रव्य का प्रचार करना पड़ता है; अतः ज्यों-ज्यों वाणिज्य की वृद्धि होती है त्यों-त्यों द्रव्य का प्रचार भी बढ़ता जाता है। वाणिज्य को कृषि और गोरक्षा से उच्च स्थान देने से द्रव्य का धन से अधिक महत्त्व हो जाता है। इस लिए लोग धन का उपार्जन छोड़ कर द्रव्य-सञ्चय की ओर झुक पड़ते हैं; फलतः कृषि और गोरक्षा की उपेक्षा हो जाती है। अन्त में वह विपत्ति उपस्थित होती है जो इस समर के कारण इङ्गलिस्तान में हो रही है। जर्मनी के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री प्रिन्स बूलो की १९०२ की कृषिपुनरुद्धार-सम्बन्धी नीति से यह सिद्ध होता है कि जर्मन लोगों के मतानुसार भी कृषि ही आर्थिक स्वतन्त्रता का मुख्य आधार है। अतः वाणिज्य को कृषि और गोरक्षा से बढ़ने नहीं देना चाहिए।

(३) **अर्थ का बहुत गौरव न होना**—अर्थ का गौरव कम होने से लोग अनावश्यक अर्थ-संचय नहीं करते, राजा और प्रजा में परस्पर अर्थ-वैषम्य नहीं होता, द्रव्य के लिए लोगों की प्राणशक्ति का वृथा क्षय नहीं होता। यवनाचार्यों के मतानुसार भी अर्थ का कम गौरव होना जाति के लिए श्रेयस्कर है, वर्तमान बोल्शेविकों का भी यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवर्चस् और क्षात्रतेज से अर्थबल को नीचा स्थान देकर हमारे आचार्यों ने एक बड़ी जटिल सामाजिक मीमांसा को सुलझा दिया था।

(४) **व्यवसायों का अन्वयागत होना**—इससे लोगों को अपना-अपना व्यवसाय सीखने में बहुत सुगमता रहती है; फलतः अन्य कामों को सीखने और करने के लिए

यथेष्ट समय मिल सकता है; कलाकौशलों का लोप नहीं होने पाता; पेट की समस्या समाज को विपर्यस्त नहीं करने पाती; व्यक्तिगत और जातिगत आर्थिक स्वतन्त्रता बनी रहती है। शताब्दियों से प्रतिकूल कारणों के होते हुए भी इस अन्वयागत व्यवसायप्रथा के कारण भारत में सुखशान्ति बनी हुई थी; इसके प्रतिपक्ष अनुकूल कारणों के होते हुए भी इस प्रथा के अभाव के कारण यूरप को सुखशान्ति के दर्शन तक न हुए, उसकी चिन्तारूपी दावाग्नि बढ़ती गई जिसकी लपटों से अब हमारा भारत भी झुलसने लगा है।

(५) **प्रत्येक ग्राम और नगर की ऐसी सामाजिक अवस्था बनाना कि जिससे वह आर्थिक रूप से दूसरे नगर व ग्राम के अधीन न हो**। इस प्रकार की सामाजिक रचना से प्रत्येक स्थान के आवश्यक पदार्थ वहीं उत्पन्न हो जाते हैं, सर्वत्र स्थानीय भाविक स्वतन्त्रता बनी रहती है, एक स्थान में उत्पात मचने से उसके आसन्नवर्ती स्थानों की सुखशान्ति भङ्ग होने नहीं पाती। ऐसा होने नहीं पाता है कि युद्ध तो होवे यूरप में और महँगी पड़े भारत में।

(६) **सत्कार्य में उद्वर्तं धन को निकलवा देना**—इस प्रथा से एक पन्थ दो काज होते हैं। एक ओर आवश्यक से अधिक धन के चले जाने से लोग सांङ्गिक और निर्निमित्तिक परतन्त्रता में पड़ने नहीं पाते और दूसरी ओर लोकोपकार में लगे हुए धनहीन ब्राह्मण अथवा दूसरे सत्पात्र अभाविक परतन्त्रता के दलदल से निकल जाते हैं। यह रीति हमारे देश में अब तक कुछ-कुछ बनी हुई है। विस्मृति रूपी पङ्क में डूबते हुए शरणार्थी संस्कृतसाहित्यरूपी गजेन्द्र की सूँड़ में पकड़ा हुआ कमल अब तक इसी प्रथा के कारण दिखाई दे रहा है।

इति दैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये आर्थिक स्वातन्त्रिको नाम तृतीयाह्निकः।

चतुर्थ आह्निक

स्वाभाविक स्वतन्त्रता

जिस स्वतन्त्रता-रूपी शरीर का प्राण शासनिक-स्वतन्त्रता और रीढ़ आर्थिक-स्वतन्त्रता है स्वाभाविक स्वतन्त्रता उसकी चेतना है, जैसे बिना चेतना के केवल प्राण के सञ्चार और रीढ़ की दृढ़ता से किसी जीव की रक्षा नहीं हो सकती एवं बिना स्वाभाविक स्वतन्त्रता के केवल शासनिक-आर्थिक स्वतन्त्रताओं से मनुष्य के

प्राकृतिक हित का योगक्षेम नहीं हो सकता, क्योंकि शासनिक और आर्थिक स्वतन्त्रताओं के अतिरिक्त अन्य कारणों से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघात होता है, उन कारणों में से कोई तो आत्महृदय-दौर्बल्य-जन्य होते हैं, कोई परव्यक्ति उत्पात-जन्य और कोई सामाजिक दुष्प्रवृत्तिजन्य।

इन तीन कारणों से मनुष्य का अपना प्राकृतिक हित साधन न कर सकना अस्वाभाविक परतन्त्रता कही जाती है; उसके तीन भेद होते हैं :—

(१) अस्मिताजन्य, (२) परजन्य और (३) समाजजन्य।

हृदयदौर्बल्यजन्य परतन्त्रता अर्थात् भय और लोभ का प्रतिरोध न कर सकने के कारण मनुष्य का अपने प्राकृतिक हित का साधन न कर सकना अस्मिताजन्य परतन्त्रता कही जाती है। यथा हम लोगों का सरकारी नौकरी न मिलने के भय के कारण अपने बालकों को सुन्दर जातीय शिक्षा न दे सकना अथवा सरकारी नौकरी मिलने के लोभ से उनको निरर्थक विजातीय शिक्षा देना।

परव्युत्पातजन्य परतन्त्रता अर्थात् दूसरों के किये हुए उत्पातों के कारण मनुष्य का अपना प्राकृतिक हित साधन न कर सकना परजन्य परतन्त्रता कही जाती है। यथा विश्वासघाती, देशघाती, जाति-द्रोहियों के भय से बहुतों का दैशिकधर्म में हाथ न डाल सकता।

सामाजिक दुष्प्रवृत्तिजन्य परतन्त्रता अर्थात् समाज की दुष्प्रवृत्ति के कारण मनुष्यों का अपना प्राकृतिक हित साधन न कर सकना समाजजन्य परतन्त्रता कही जाती है; यथा असुर समाज की दुष्प्रवृत्ति के कारण प्रह्लाद की हरिभक्ति में बाधा पड़ना, हमारे समाज की दुष्प्रवृत्ति के कारण जातीय शिक्षा-शैली का न चल सकना।

इन तीनों प्रकार की परतन्त्रता का कारण है सत्त्वह्रास; सत्त्वह्रास से मनुष्य राग-द्वेष के वशीभूत हो जाता है, रागद्वेष के वशीभूत होने से उसमें दो प्रकार की दुर्बलताएँ उपस्थित होती हैं; एक बुद्धिसम्बन्धी और दूसरी हृदयसम्बन्धी। बुद्धि-सम्बन्धी दुर्बलता से मनुष्य को स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की पहचान नहीं रहती है; हृदयसम्बन्धी दुर्बलता से उसको स्वतन्त्रता का ग्रहण और परतन्त्रता का त्याग कर सकने की शक्ति नहीं रहती है। जिस मनुष्य की बुद्धि और हृदय दुर्बल होते हैं वह हीनावस्था में उदरपरायण और सम्पन्नावस्था में इन्द्रियपरायण होता है, सबलों के लिए वह अपने प्राकृतिक हित की हानि और अपने लिए निर्बलों के प्राकृतिक हित की हानि किया करता है, प्रबलों का दास आप बने रहना और निःसत्वों को अपना दास बनाए रखना ऐसे मनुष्य की विशेषता होती है। ऐसा मनुष्य अपने बुद्धिसम्बन्धी और हृदयसम्बन्धी दौर्बल्य के कारण अपने आप अपने प्राकृतिक हित

की हानि करता है, और जब उसमें कुछ बल होता है तब कामादि षड् मनोविकारों के वशीभूत होकर वह अनेक प्रकार के उत्पात मचा कर दूसरों के प्राकृतिक हित की भी हानि किया करता है; जब रागद्वेषजन्य दौर्बल्य समष्टिगत होता है तब समाज की वही शोचनीय दुष्प्रवृत्ति हो जाती है जो उस दौर्बल्य के कारण व्यक्ति की होती है। यह रागद्वेषजन्य दौर्बल्य सब प्रकार की परतन्त्रताओं का कारण होता है।

(१) जब बाह्यसन्निकर्ष स्वतन्त्रता के प्रतिकूल नहीं होते तब यह अस्मिताजन्य परतन्त्रता का हेतु होता है।

(२) कुराज्य और कुशासनकाल में जब यह दृष्टिगत होता है तब यह परजन्य परतन्त्रता का हेतु होता है।

(३) कुराज्य और कुशासनकाल में जब यह समष्टिगत होता है तब यह समाज-जन्य परतन्त्रता का हेतु होता है।

(४) राज्य और प्रजा के बीच जब अर्थ-विपर्यय होता है और यदि उस समय यह दौर्बल्य समष्टिगत होता है तो यह शासनिक परतन्त्रता का हेतु होता है।

(५) राज्य जब विपरीतार्थी और लोभी होता है तब वह आर्थिक परतंत्रता का हेतु होता है।

(६) इस दौर्बल्य के संस्कार जब चित्तगत होते हैं तब यह आध्यात्मिक बन्धनों का कारण होता है।

अस्मिताजन्य परतंत्रता के मुख्य हेतु ये हैं :—

(१) **तामसी भोजन**—ऐसे भोजन से शरीर व्यधिग्रस्त, चित्त अप्रसन्न, बुद्धि और धृति तामसी हो जाती है, ऐसे शरीर और चित्त में ऐसी बुद्धि और धृति से सत्व का योग-क्षेम नहीं हो सकता; फलतः मनुष्य में रागद्वेषजनित दौर्बल्य आ जाता है जिसके कारण वह अपने प्राकृतिक हित का साधन नहीं कर सकता।

(२) **तामसी सन्निकर्ष**—सन्निकर्ष अनेक प्रकार के होते हैं, तीन उनमें से बड़े महत्व के होते हैं। पहिला राज्यिक, दूसरा सामाजिक और तीसरा साहचर्यिक। इन तीनों के संयोग से जैसा युग चाहिए वैसा बन सकता है। भगवान् उशना के मतानुसार राजा जैसा युग चाहता है वैसा बना सकता है। राजा वेणु के दुःशासन से जो समय कलिकाल हो गया था वही पृथु के सुशासन से सत्युग हो गया था। समाज में जिस पदार्थ का मान होता है उसका प्रचार हो जाता है। जिस ओर प्रचाररूपी पवन चलता है उसी ओर मनुष्य की बुद्धिरूपी लता झुक जाती है, जिस प्रचार ने एक समय क्षत्रियों से रणभूमि में समाधि चढ़वाई थी आज उसी ने ब्राह्मणों से नौकरी के लिए नीच से नीच कर्म करवा दिये हैं। संलाप, सहवास और उपदेश

द्वारा मनुष्य में सहचरों के चित्तसंस्कारों का सञ्चार होता है, ये संस्कार महारथी को क्लीव और क्लीव को महारथी बना देते हैं; शल्य के संलाप ने तेजस्वी कर्ण को निस्तेज बना दिया था और विदुला के उपदेश ने निस्तेज बालक को वर्च्चोमय बना दिया था।

इन तीन प्रकार के सन्निकर्षों के एक साथ तामसी होने से मनुष्य में कभी सत्त्व हो नहीं सकता है, इस सन्निकर्षों को बदल कर उनको सात्त्विक करने वाले अवतार कहे जाते हैं।

(३) **जातीय अवपात**—जब किसी जाति का अवपात होता है तब सबसे प्रथम उसके व्यक्तिगत सद्गुण हीन हो जाते हैं, तदनन्तर वे श्रद्धाहीन हो जाते हैं, श्रद्धाहीन होने से वे निःसत्व होकर रागद्वेष के वशीभूत हो जाते हैं।

परजन्यपरतन्त्रता के मुख्य हेतु ये हैं :—

(१) **कुराज्य**—कुराज्य का स्वाभाविक कर्म होता है कुत्सित व्यक्तियों को जमा करना, उनको अधिकार देना, प्रजा को निस्तेज, निर्बुद्धि, निर्वीर्य और विपर्यस्त करना। ऐसी अवस्था में प्रजा अपने प्राकृतिक हित का साधन नहीं कर सकती।

(२) **कुशासन**—कुशासन का अवश्यंभावी परिणाम होता है बलवानों से दुर्बलों का पीड़न, अनीति और अन्याय से दुष्टों की साहस वृद्धि और निर्बलों का हताश होना। इन कारणों से एक ओर तो बलवानों को परस्वहरण आदि उत्पात करने का और दूसरी ओर निर्बलों को तामसिक सहिष्णु होने का अभ्यास पड़ जाता है, जिससे उनका प्राकृतिक हित साधन होना प्रायः असम्भव हो जाता है।

(३) **कुव्यवस्था**—कुव्यवस्था मनुष्य समाज में सबसे भयङ्कर और घृणास्पद मायाविनी है। इसके मन्त्र से बड़े-बड़े मृगराज मकड़ी के तन्तु से बाँधे जाते हैं, सबके देखते घोर अन्याय होता है किसी को प्रतिवाद करने का साहस नहीं होता।

(४) **स्त्रियों का पांसुलत्व**—स्त्रियों की पांसुलता से समाज में सङ्करों की वृद्धि होती है, सङ्करों में निर्लज्जता और स्वार्थ-परायणता स्वाभाविक होती है। निर्लज्ज और स्वार्थी मनुष्य को अपने स्वार्थ के लिए कोई नीच काम करने में तथा किसी के प्राकृतिक हित का नाश करने में सङ्कोच नहीं होता। अतः सङ्करों की वृद्धि होने से लोगों के प्राकृतिक हित साधन में बाधा पड़ती है। अतएव हमारे धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के सतीत्व पर विशेष आग्रह किया गया है और इसी कारण सङ्करों को दबाए रखने का यत्न किया गया।

(५) **अर्थवैषम्य और अर्थगौरव का संयोग**—जब समाज में कोई बहुत धनवान् और कोई बहुत दरिद्री होते हैं और साथ ही इस के धनवानों का मान

और निर्धनों का अपमान होता है तब समाज में धनवानों का स्वेच्छाचार और निर्धनों के प्राकृतिक हित का प्रतिघात होने लगता है।

सामाजिक परतन्त्रता का मुख्य हेतु है चिति और विराट् का ह्रास—जब किसी जाति में चिति और विराट् का ह्रास होने लगता है तब अस्मिताजन्य और परजन्य परतन्त्रताओं के कारण समष्टिगत होने लगते हैं जिसके कारण रागद्वेषजन्य दुर्बलता और औत्पातिक प्रवृत्ति समाजगत होने लगती हैं।

स्वहृदयदौर्बल्य, व्यत्युत्पात और सामाजिक दुष्प्रवृत्ति के कारण अपने प्राकृतिकहित का प्रतिघात न होना स्वाभाविक स्वतन्त्रता कही जाती है। वह स्वतन्त्रता तीन प्रकार की होती है :—(१) आभ्यन्तरिक स्वतंत्रता, (२) आनुत्पादित स्वतंत्रता और (३) सामाजिक स्वतन्त्रता।

भय और लोभ के कारण अपने प्राकृतिक हित का प्रतिघात न होना आभ्यन्तरिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

परव्युत्पात से अपने प्राकृतिक हित का प्रतिघात न होना आनुत्पातिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

सामाजिक दुष्प्रवृत्ति के कारण अपने प्राकृतिक हित का प्रतिघात न होना सामाजिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

स्वाभाविक-स्वतंत्रता का कारण है ह्री, धृति, दया, क्षमा, तेज, त्याग, अभय और आर्जव का संयोग; इस संयोग को अष्टदल विभूति कहते हैं; इस विभूति के कारण मनुष्य में रागद्वेषजन्य क्लैब्य और कार्पण्य आने नहीं पाते, फलतः उस में अस्मिताजन्य परतन्त्रता नहीं आती। ह्री, दया, क्षमा और त्याग के कारण मनुष्य की कभी औत्पातिक प्रवृत्ति नहीं होती, तेज और अभय के कारण वह दूसरों के उत्पातों को सहन भी नहीं कर सकता। इस अष्टदल-विभूति का समाज में जब आधिक्य होता है तब समाज में दुष्प्रवृत्ति नहीं फैलती; अतः सामाजिक-स्वतन्त्रता बनी रहती है।

वह अष्टदल विभूति हमारे आचार्यों के मतानुसार व्यक्ति और जाति दोनों के अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए परमावश्यक है। किन्तु अपने को स्वतन्त्रतारूपी प्रकाश का सूर्य समझने वाले पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ऐसा नहीं है क्योंकि उन के अनुसार आभ्यन्तरिक स्वतन्त्रता कोई वस्तु नहीं है, और न वह दैशिकशास्त्र का विषय है; वह है धर्मशास्त्र का विषय। पाश्चात्य स्वतन्त्रता हमारी स्वतन्त्रता से बिलकुल भिन्न जान पड़ती है। हमारे दैशिकशास्त्र के अनुसार पाश्चात्य स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नहीं कही जा सकती। जब तक देश-देशान्तरों में यूरप की तूती बोल रही है, जब तक अन्य देशों में उसके माल और उद्वर्त की खपत हो रही है, तभी तक

पाश्चात्य स्वतन्त्रता की चमक है; समय के पलटा खाने पर उसका वास्तविक रङ्ग दिखाई देने लगेगा। पाश्चात्यों के अनुसार आनुत्पातिक स्वतन्त्रता के लिए भी अष्ट-दल विभूति की कोई आवश्यकता नहीं है, उन के मतानुसार यह काम कानून रचना और कठोर दण्ड नीति से हो सकता है। इस प्रकार उत्पात तो कम नहीं होते हैं, किन्तु लोग निस्तेज और भ्रष्ट अवश्यमेव हो जाते हैं। पण्डितमानी यूरप वास्तव में जानता तक नहीं है कि स्वाभाविक स्वतन्त्रता क्या वस्तु है।

हमारे आचार्यों के मतानुसार स्वाभाविक स्वतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य से मनुष्य में ओज, सहिष्णुता, त्याग और मेधा का सञ्चय होता है जिससे वह शारीरिक और मानसिक विभूतियों से भर कर तेज और शील का पुञ्ज हो जाता है; ऐसे मनुष्य के प्राकृतिक हित में किसी प्रकार के बाह्याभ्यन्तरिक प्रतिघात नहीं हो सकते, उस की स्वाभाविक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का किसी को साहस तक नहीं होता है और न वह किसी की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है; यथार्थ स्वतन्त्र मनुष्य का लक्षण ही यह है कि वह जैसा स्वतन्त्र आप होता है वैसा ही स्वतन्त्र वह दूसरों को भी रखना चाहता है।

(२) वैभव की अपेक्षा दैवीसम्पद् का मान—जिस पदार्थ का मान होता है लोग उसका सञ्चय करते हैं; अतः दैवीसम्पद् का मान होने से लोग उसको प्राप्त करने लगते हैं। उसके प्राप्त हो जाने पर स्वाभाविक स्वतन्त्रता स्वयं प्राप्त हो जाती है, कहा भी है "दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।"

(३) ऊँचा आदर्श—जिस व्यक्ति अथवा समाज का आदर्श ऊँचा रहता है उस का मन कभी नीच कामों की ओर नहीं डुलता है, उस में तेज और शान्ति का संयोग रहता है, इस उत्तम संयोग से स्वाभाविक स्वतन्त्रता बनी रहती है। जब तक हमारे भारत का आदर्श ऊँचा रहा तब तक एक ओर तो वह देवराज को भी ललकार कर कहता था "गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते" और दूसरी ओर अपने प्राणों के समान प्यारी श्रुति की निन्दा करने वाले की भी स्तुति इस प्रकार किया करता था।

"निन्दसि यज्ञविधेरहरहश्रुतिजातं सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्।
केशव! धृत-बुद्ध-शरीर जय जगदीश हरे! ॥"

ऐसे तेज और ऐसी शान्ति के प्रसाद से ही भारत में पूर्ण स्वाभाविक स्वतन्त्रता रहती थी।

इति दैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये स्वाभाविक-स्वातन्त्र्यको
नाम चतुर्थाह्निकः।

पञ्चम आह्निक

यूरपीय-स्वातन्त्र्य-दिग्दर्शन

इस अध्याय के पूर्वाह्निकों में कहे हुए उपायों से प्राचीन काल में भारत को स्वतन्त्रता की खोज करनी नहीं पड़ती थी, वरन् स्वतन्त्रता को भारत की खोज करनी पड़ती थी। किन्तु दशान्तर से अब नाभि से कस्तूरी निकल गई है, केवल सूखा चमड़ा पड़ा हुआ है जिस में अबतक मृगमद के पूर्व संस्कार कुछ-कुछ बने हुए हैं और चाम के सड़ जाने से उस में कुछ-कुछ दुर्गन्ध भी आने लगी है; इसमें चाहे कोई यह अनुमान कर ले कि ऐसे दुर्गन्धयुक्त चमड़े में सुगन्ध कभी रही न होगी, अथवा कोई यह अनुमान कर ले कि जिस पदार्थ के पूर्व-संस्कार ऐसे सुन्दर हैं वह स्वयं कैसा मनोहर न होगा। जो कुछ हो, अब तो कहा यह जाता है कि प्राचीन काल में भारत स्वतन्त्रता को जानता ही न था, अंग्रेजी साहित्य के प्रसाद से अब उसकी दृष्टि स्वतंत्रता की ओर जाने लगी, और यह भी कहा जाने लगा है कि स्वतन्त्रतारूपी यज्ञाग्नि की अरणि यूनान, समिध् उसके यूरप की अन्य जातियाँ, आज्य उस का अंग्रेजी साहित्य है, यह पावन स्वतन्त्रतारूपी यज्ञाग्नि यूरपरूपी वेदी में ज्वलित हुई और वहीं फलीभूत भी होती है।

स्वतन्त्रता की अरणि कहे जाने वाले यूनान के लेखकों में सुविख्यात आचार्य अरिष्टोटलस् सबसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं, उनके मतानुसार स्वतन्त्रता के दो तत्त्व हैं :—

(१) बारी-बारी से सब व्यक्तियों का शासक और शासित होना, अर्थात् एक बार प्रत्येक व्यक्ति को शासन करने का अवसर मिलना और जब उसकी शासन की बारी हो चुकती है तब उसका दूसरे व्यक्ति के शासन को स्वीकार करना।

(२) मनुष्य का जिस प्रकार चाहे उस प्रकार रह सकना।

उक्त स्वतन्त्रता के पहले तत्त्व का अर्थ ठीक समझ में नहीं आता; क्योंकि एथन्स के समान छोटी रियासत में एक बार सब को शासन करने का अवसर चाहे मिल जाय, किन्तु किसी बड़े राज्य में ऐसा होना तब तक सम्भव नहीं कि जब तक उसकी छोटी-छोटी रियासतों में अनेक टुकड़े न किए जायँ। दूसरे तत्त्व के विषय भी यह कहना पड़ता है कि जब तक समस्त समाज सत्त्वमय न हो तब तक मनुष्य जैसे चाहे वैसे नहीं रह सकता है। इस दूसरे तत्त्व से राजसिक और तामसिक समाजों में अनेक प्रकार के अनर्थ और उत्पात होते हैं।

अतः पाश्चात्यों ने अरिष्टोटल के स्वतन्त्रता के तत्त्वों की व्याख्या यों की है कि स्वतन्त्रता का एक अंश है नागरिकों का शासन-प्रबन्ध में किसी न किसी रूप में

शरीक होना, और दूसरा अंश है व्यक्तियों के निज कार्यों में यथाशक्य राज्य का हस्तक्षेप न होना।

यदि उक्त व्याख्या के अनुसार नागरिकों का किसी न किसी रूप में शासन-प्रबन्ध में शरीक होना स्वतंत्रता कहा जाय, तो हिन्दुस्तानियों का अपनी इच्छा के प्रतिकूल किसी सेशन्स के मुकदमे में; जहाँ उनकी सम्मति को मानना अथवा न मानना जज की इच्छा पर निर्भर रहता है और कभी उनकी राय की परवाह भी नहीं की जाती है, एसेसर होना भी स्वतंत्रता कहा जायगा, क्योंकि एसेसर होना भी शासन प्रबन्ध में शरीक होना है। तो क्या ऐसी एसेसरी स्वतन्त्रता कही जा सकती है। ऐसे और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं जिन में मनुष्यों को अपनी इच्छा के प्रतिकूल शासन कार्य में शरीक होना पड़ता है। यदि इस प्रकार अपनी इच्छा के प्रतिकूल शासन कार्य में शरीक होना स्वतन्त्रता कहा जाय, तो यवन स्वतन्त्रता के उक्त दो तत्त्वों में परस्पर विरोध आ जाता है। अतः इस व्याख्या से उक्त स्वतन्त्रता का अर्थ समझने में कुछ सहायता नहीं मिलती।

उक्त स्वतन्त्रता के पहले तत्त्व का अर्थ किन्हीं के मतानुसार निर्वाचन पद्धति का राज्य है; किन्तु इससे भी ठीक समाधान नहीं होता है, क्योंकि :—

(१) सब लोग एक प्रवृत्ति एक मत के नहीं होते, अतः सब एक ही प्रतिनिधि का निर्वाचन नहीं करते हैं, भिन्न-भिन्न दलों से भिन्न-भिन्न प्रतिनिधि चुने जाते हैं; किन्तु राज्य प्रबन्ध उसी प्रतिनिधि के हाथ में दिया जाता है जिस के पक्ष में मताधिक्य होता है; अतः निर्वाचन पद्धति के राज्य में अल्पांश लोगों को अपनी इच्छा के प्रतिकूल अधिकांश लोगों की बात माननी पड़ती है।

(२) निर्वाचित पद्धति के राज्य में बहुधा चतुर राजसिक लोगों का ही निर्वाचन हुआ करता है, वेही अग्रसर होते हैं; किन्तु ऐसे मनुष्यों के शासन में लोग सुखशान्ति से जैसे चाहें वैसे नहीं रह सकते हैं, ऐसे प्रतिनिधि उदरानल के समान होते हैं, जबतक उनके लिए बाह्य पक्षरूपी अन्न पचाने को रहता है तब तक सब ठीक निभता है, किन्तु जब वह अन्न नहीं रहता है तो वे स्वपक्षरूपी आँतों को जलाने लगते हैं।

(३) निर्वाचन पद्धति के राज्य में बहुधा सम्पत्ति की तूती बोला करती है, उसमें निर्धनों का चुनाव होना बहुत कठिन होता है, चाहे वे बड़े सुयोग्य हों। ऐसे राज्य रिपब्लिक का जामा पहने हुए प्लूटोक्रसी होते हैं। उनमें प्रजा के नाम में धनवानों का डंका बजा करता है, अरिष्टोक्रसी से लड़ने के समय वे प्रजातन्त्र, किन्तु लाभ उठाने के समय धनिकतन्त्र हो जाते हैं।

प्रजाप्रतिनिधि-मण्डल का सर्वोत्तम उदाहरण इङ्गलिस्तान की पारलियामेण्ट कही जाती है; परंतु उसमें भी अकिंचन की सुनवाई बहुत कम होती है; इसी कारण इङ्गलिस्तान में इन दिनों बोलशेविज्म का भय हो रहा है, इसी कारण वहाँ साहूकार और मजदूर एक दूसरे को दबाने की चेष्टा कर रहे हैं, इसी कारण वहाँ बारबार हड़तालें हो रही हैं जिनकी दुर्गन्ध अब भारत में भी फैलने लगी है; गत महासमर के दिनों में पारलियामेण्ट ने गरीब लोगों को उनके इच्छानुसार रहने नहीं दिया, उन से कई काम उनकी इच्छा के विरुद्ध करवाए गये, कन्सक्रिपशनका नियम बनाकर बलात् उनको युद्ध में भेजकर कटवाया। कहने का तात्पर्य्य यह है कि पारलियामेण्टरी राज्य भी अरिष्टोटल की स्वतन्त्रता का अभिप्रेत नहीं हो सकता, चाहे इन दिनों इङ्गलिस्तान में संसार के अनेक देशों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता हो। किन्तु इङ्गलिस्तान की स्वतन्त्रता का हेतु उसकी पारलियामेण्ट नहीं है उसके वास्तविक हेतु हैं भारत आदि इङ्गलिस्तान के अधिकृत देश; क्योंकि किसी जाति अथवा व्यक्ति का ऐहिक श्रेय बहुत कुछ उसके संसर्गियो के गुण दोषों से होता है, न कि केवल उसके ही गुणों से; इसी प्रकार इङ्गलिस्तान की वर्तमान अवस्था भी बहुत कुछ भारत आदि देशों के गुणदोषों से बनी हुई है। यदि आज भारत के वर्तमान गुणदोषों में परिवर्तन हो जाय, तो कल ही इङ्गलिस्तान की अवस्था बिलकुल दूसरी हो जायगी, पारलियामेण्ट वैसी ही रहेगी परन्तु वे कलाएँ जिनसे इंग्लिस्तान में स्वतन्त्रता इन दिनों विराज रही हैं अन्यथा हो जाएँगी।

आचार्य अरस्तू की स्वतन्त्रता का भाव चाहे जो कुछ हो किन्तु यूरप के भिन्न-भिन्न स्वतन्त्रतारूपी इत्रों में आधार अरिष्टोटल का स्वतन्त्रतारूपी चन्दन का ही है; पूर्व काल में उसका पहला तत्व स्वतन्त्रता समझा जाता था, जिससे रोम में पहले अराजकवाद की अग्नि प्रज्वलित हुई जिसकी चिनगारियाँ अब प्रायः समस्त यूरप में फैल गई हैं और धीरे-धीरे सारे संसार में फैलती जा रही हैं; अब इन दिनों उस स्वतन्त्रता के दूसरे तत्व की ओर यूरप का ध्यान गया है, इस दूसरे तत्व रूपी झंझा ने इन दिनों यूरोपीय समाज-रूपी समुद्र को आकुल कर रखा है। इस की व्याख्या में वहाँ अनेक ग्रन्थ लिखे गये और लिखे जा रहे हैं, आचार्य मिल की 'लिबर्टी' नामक पुस्तक एक प्रकार से इस की ही विस्तृत व्याख्या है; यहीं इन दिनों सोश्यलिज्म का मूल और बोल्शेविज्म का मन्त्र हो रहा है; किन्तु कहा नहीं जा सकता कि बिना हमारे आर्ष दैशिकशास्त्र का सहारा लिए वे कहाँ तक सिद्धार्थ होंगे।

अंग्रेजी दैशिकशास्त्र में स्वतन्त्रता की कोई एक परिभाषा नहीं देखी जाती, उसमें अनेक भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ पाई जाती हैं, कारण इसका यह है कि इङ्गलि-

स्थान के लोगों को जब जिस प्रकार के कष्ट हुए तब उस प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाना स्वतन्त्रता कहा गया। अतः—

(१) किसी के मतानुसार, जिस देश में अन्न की प्रशस्ति नहीं होती वहां स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती है।

(२) किसी के मतानुसार, पारलियामेण्ट पद्धति का राज्य स्वतन्त्रता कहा जाता है।

(३) किसी के मतानुसार, शासक का न होना स्वतन्त्रता कही जाती है; जितनी शासन की मात्रा कम होती है उतनी स्वतन्त्रता की मात्रा अधिक होती है, और पूर्ण अशासकता पूर्ण स्वतन्त्रता कही जाती है।

(४) किसी के मतानुसार अत्यन्त शासन न होना स्वतन्त्रता कही जाती है।

(५) किसी के मतानुसार शासन का प्रजा के अन्तःकरण के अनुकूल होना और लोगों का उस शासन को सहर्ष पालन करना स्वतन्त्रता कही जाती है।

(६) किसी के मतानुसार सब सयाने मनुष्यों का राजकार्य में हस्तक्षेप हो सकना स्वतन्त्रता कही जाती है।

ऐसी और भी अनेक परिभाषाएँ हैं, जिन सबका उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता।

प्रोफेसर सीली ने उक्त सब परिभाषाओं का सार लेकर स्वतन्त्रता के तीन अर्थ कहे हैं:—

पहला, जातीय स्वतन्त्रता—अर्थात् अपनी जाति का किसी दूसरी जाति के अधीन न होना;

दूसरा, राज्य का उत्तरदायित्व—अर्थात् प्रजा के पूछने पर राज्य का अपनी कार्यवाही को प्रजा को समझाना और इसकी कार्यवाही को प्रजा के मतानुसार न पाए जाने पर प्रजा में राज्य में परिवर्तन कर सकने की शक्ति होना;

तीसरा, राज्य की शक्ति का परिमित होना—अर्थात् राज्य को मनमानी कर सकने की शक्ति न होना।

सीली के मतानुसार स्वतन्त्रता के उक्त तीन अर्थों में से तीसरा अर्थ सबसे अच्छा समझा जाता है, जितनी राज्य की शक्ति परिमित होती है उतने लोग स्वतन्त्र कहे जाते हैं, उनके अनुसार स्वतन्त्रता सदा अच्छी ही नहीं होती, देशकाल निमित्तानुसार वह अच्छी और बुरी दोनों होती है, जब वह पूर्ण रूप में होती है तब समाज शासकहीन होकर निरङ्कुश हो जाता है, जो बात कभी अभीष्ट नहीं हो सकती। इसके प्रतिपक्ष राज्य को जब मनमानी करने दी जाती है तब वह कालान्तर में भयङ्कर और दुःखदायी हो जाता है; अतः राज्यशक्ति को अमर्याद और

असीम न होने देना अत्यन्त आवश्यक है। प्रोफेसर सीली के मतानुसार यह स्वतन्त्रता का सबसे अच्छा रूप है।

जर्मन आचार्य फौन ट्राइचे के मतानुसार शासक और शासितों के बीच एक-रसवाहिता अर्थात् शासक की आज्ञा का प्रजा के अनुकूल होना और प्रजा का उस आज्ञा को शुद्ध अन्तःकरण से स्वेच्छा-पूर्वक पालन करना स्वतन्त्रता के दो आधार हैं, एक ओर बुद्धिसङ्गत नियम और दूसरी ओर उनका सहर्ष पालन होना।

फौन ट्राइचे के मतानुसार यह समझना भूल है कि राज्य के देने से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वस्तुतः प्रजा की स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही राज्य का राज्यत्व है, जो राज्य प्रजा की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं करता है वह राज्य ही नहीं। यह समझना भी मूर्खता है कि स्वतन्त्रता केवल कन्स्टिट्यूशनल मौनार्की अथवा रिपब्लिक में ही होती है अन्यत्र नहीं। इस मूर्खता का प्रचार इन दिनों बढ़ता जा रहा है। लोगों में यह विचार फैलता जा रहा है कि निर्वाचन पद्धति का राज्य, जिसमें प्रजा अपने प्रतिनिधियों द्वारा आप शासन करती है और कानून-कायदे बनाने में शरीक रहती है, स्वतन्त्रता है; यह स्वतन्त्रता का आभास मात्र है; वोट देकर शासक को चुनने से ही स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो जाती है क्योंकि अधिकांश प्रजा के मतानुसार जहाँ शासन होता है और उनके मतानुसार कानून कायदे बनते हैं, उन लोगों की जो अधिकांश प्रजा के अन्तर्गत नहीं होते हैं उस शासन और उन कानून कायदों का अपनी इच्छा के प्रतिकूल पालन करना पड़ता है; अपरञ्च ऐसे राज्य में लोगों को फुसला कर निर्वाचित हुए पण्डितमानी लोग धीरे-धीरे प्रजा की छोटी २ बातों में हस्तक्षेप करने लगते हैं। स्वतन्त्रता प्रत्येक पद्धति के राज्य में हो सकती है यदि उसमें शासक और शासितों के बीच एक-रस-वाहिता हो।

फौन ट्राइचे के उक्त विचारों का सार यह है कि प्रत्येक मनुष्य का सहर्ष उन नियमों का पालन करना, जो उसके व्यष्टिगत और समष्टिगत हित के लिए बने होते हैं, स्वतन्त्रता कही जाती है; इस स्वतन्त्रता की रक्षा करना राज्य का, चाहे वह किसी पद्धति का हो, एक मात्र धर्म है।

असूया त्यागकर यदि हमारे आर्ष धर्मशास्त्र पर विचार किया जावे तो फौन ट्राइचे के विचार यों कहे जा सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से देश में स्वतन्त्रता रहती है। अत एव :

"नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।

इतिदेशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये यूरपीय स्वातन्त्र्य
दिग्दर्शनो नाम पञ्चमाह्निकः।

———

विराडध्याय

तब तक कोई पूर्व अध्याय में कहे हुए स्वातन्त्र्यसाधन के उपायों को काम में नहीं ला सकता है जब तक समाज में व्यष्टिरूप और समष्टिरूप से बाह्याभ्यन्तरिक अवस्था अनुकूल न हो; ऐसी अनुकूल अवस्था विराट् के जागृत हुए बिना हो नहीं सकती। यह पहले कहा जा चुका है कि भगवती प्रकृति ने सामाजिक जीवों को, परस्पर श्रेय के लिए, विराट् शक्ति दी है, जब संसार में सत्त्व का आधिक्य होता है तब समाजों और व्यक्तियों की अवस्था सरल होती है, कोई समाज किसी समाज का और कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति का अनिष्ट नहीं चाहता है, तब उस समय यह विराट् अव्यक्त रूप से निराधार होकर काम करता है, और जब सत्त्व का ह्रास और रजस् की वृद्धि होने लगती है तब समाजों और व्यक्तियों की अवस्था जटिल होने लगती है; एक समाज दूसरे समाज का, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट करने लगता है; तब उस समय विराट् उस सामाजिक जटिलता को सुलझाने के लिए कुछ ऐसे व्यक्तियों को अपना आधार बनाकर, कि जिनमें उसका तेज विशेषतया व्याप्त रहता है एक व्यवस्थापक शक्ति को उत्पन्न कर देता है जो शक्ति समाज को अपनी छाया में ले लेती है, ज्यों-ज्यों समाज में जटिलता बढ़ती जाती है त्यों त्यों इस व्यवस्थापक शक्ति की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है।

जब इस व्यवस्थापक शक्ति का प्रभाव समाज के अधिकांश में होता है तब वह राज्य कही जाती है।

जब उसका प्रभाव समाज के अल्पांश में होता है तब वह व्यूह कही जाती है।

जब विराट् के अल्पांशगत होने से वह शक्ति प्रभावशून्य होती है तब वह संघ के नाम से कही जाती है।

राज्य, व्यूह और संघ सबका मूल कारण विराट् ही है; ज्यों ज्यों विराट् प्रबल रूप से बहुगत होता जाता है त्यों त्यों अनवस्थित समाज संघ में, संघ व्यूह में और व्यूह राज्य में परिणत होते जाते हैं, और ज्यों ज्यों विराट् का ह्रास होता जाता है त्यों-त्यों राज्य व्यूह में, व्यूह संघ में अनवस्थित समाज में भ्रष्ट होते जाते हैं और जब कालान्तर में विराट् का लोप हो जाता है तो राज्य अति-दीर्घ-संस्कार के कारण चक्की के समान स्वयं चलता जाता है तब कालान्तर में वह अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो जाता है, तब यह विराट् प्रजा में संघ रूप से प्रकट होने लगता है, फिर इन्हीं संघों के मिलने से व्यूह बन जाता है और अन्त में वह व्यूह उस कर्त्तव्य भ्रष्ट राज्य

को हटाकर उसके स्थान में नवीन राज्य को स्थापित कर देता है। यदि मिथ्या आचार विचार के कारण अथवा प्रलय क्रम के आरम्भ हो जाने से अर्थात् नाश का समय आ जाने से वह समाज निर्विराट् हो चुका हो तो कोई दूसरी जाति आकर उस विराट्शून्य जाति के राज्य को निकाल कर उसके स्थान से अपना राज्य स्थापित कर देती है, और जब उस विपर्यस्त जाति में विराट् का पुनरुदय होने लगता है तब उसका ध्यान प्रथम राज्य की ओर जाने लगता है, क्योंकि समाजरूपी शरीर में आमाशय राज्य होता है, जैसे शरीर में समस्त रसों का संचार आमाशय के द्वारा होता है एवं समाज में समस्त भलाई बुराई का संचार राज्य के द्वारा होता है; जैसे मिथ्या आहार-विहार के कारण आमाशय की क्रिया थोड़ी भी न्यूनाधिक होने से समस्त शरीर बिगड़ जाता है एवं राज्य के थोड़ा भी अपने धर्म से विचलित होने पर समस्त समाज विपर्यस्त हो जाता है। जैसे चतुर वैद्य किसी रोग के शारीरिक रोग का निदान करते समय सबसे प्रथम उसके आमाशय के विषय में पूछ ताछ करते हैं, यदि आमाशय ठीक हो अथवा उसके सुधरने की आशा हो तो रोगी को साध्य समझते हैं अन्यथा रोग को असाध्य कह देते हैं, एवं चतुर दैशिकाचार्य भी किसी जातीय रोग का निदान करते समय सबसे प्रथम राज्य के विषय में पूछताछ करते हैं, यदि राज्य अनुकूल हो अथवा उसके अनुकूल होने की आशा हो तो रोगों को साध्य अन्यथा असाध्य समझते हैं; अतः विराट् के पुनरुदय काल में विपर्यस्त जाति का ध्यान राज्य की ओर जाना स्वाभाविक होता है।

प्रथम आह्निक

राज्य विभाग

अतएव मनुष्य समाज में राज्य सबसे आवश्यक अङ्ग समझा जाता है, रजोगुण के आधिक्य से उत्पन्न हुई सामाजिक जटिलता को सुलझाने के लिए विराट् उसको उत्पन्न करता है और ज्यों ज्यों समाज में रजस् का आधिक्य होता जाता है त्यों त्यों राज्य की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। राज्य का एक मात्र उद्देश्य है सामाजिक जटिलता को सुलझाना न कि उसको बढ़ाना, जो राज्य सामाजिक जटिलता को बढ़ाता है वह अस्वाभाविक होता है। विराट्युक्त समाज में राज्य अस्वाभाविक होने नहीं पाता, अस्वाभाविक वह केवल विराट् ही समाज में होता है, किसी समाज में अस्वाभाविक राज्य का निभ जाना उस समाज को निर्विराट् अवस्था को सूचित करता है। ज्यों ज्यों राज्य अस्वाभाविक होता जाता है त्यों त्यों उसकी प्रवृत्ति सामाजिक जटिलता को सुलझाने के बदले शासन करने की होने लगती है, कालान्तर में शासन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य हो जाता है।

संक्षेपत: सामाजिक जटिलता को सुलझाने वाला अथवा ऐसा समझा जाने वाला जनसमुदाय जिसका पालन, पोषण, गौरव और अनुवर्त्तन समाज प्रेम अथवा भय के कारण करता है राज्य कहा जाता है।

पहले प्रकार के जनसमुदाय का पालनपोषण, गौरव और अनुवर्तन सुबुद्ध लोग प्रेम के कारण और कुबुद्धि लोग भय के कारण करते हैं।

दूसरे प्रकार के जनसमुदाय का पालन-पोषण-गौरव और अनुवर्तन सुबुद्ध लोग भय के कारण और कुबुद्धि लोग प्रेम के कारण करते हैं।

राज्य के मुख्य दो भेद होते हैं, एक स्वराज्य और दूसरा परराज्य।

स्वराज्य उस राज्य को कहते हैं जिसके सञ्चालक अपनी जाति के लोग होते हैं और उन लोगों का मुख्य प्रयोजन अपनी जाति का हित साधन होता है और उसकी निष्पत्ति भी उन्हीं के हाथ में होती है। विना इन तीन बातों के संयोग के कोई राज्य स्वराज्य नहीं कहा जाता है।

परराज्य उस राज्य को कहते हैं जिसके सञ्चालक अपने जाति के नहीं होते हैं अथवा अपनी जाति के ऐसे लोग होते हैं कि जिनका मुख्य प्रयोजन अपनी जाति का हित-साधन नहीं होता है, अथवा उनके हाथ में स्वजाति हित की निष्पत्ति नहीं होती है। इन तीन बातों में से एक के होने से भी राज्य परराज्य कहा जाता है।

पुन: स्वराज्य दस प्रकार का होता है:-(१) ब्राह्म, (२) आर्ष, (३) प्राजापत्य, (४) दैव, (५) मानव, (६) आसुर, (७) याक्ष, (८) राक्षस, (९) पैशाच, और (१०) मानव।

जब समाज में विराट् सोलह कलाओं से जागृत रहता है, दैवीसम्पद् समष्टिगत होकर विराजी रहती है, सर्वत्र सद्भाव रहता है, कोई किसी से छोटा बड़ा नहीं समझा जाता है, सत्व का आधिक्य होता है जिसके कारण समाज की अवस्था सर्वत्र सरल होती है; अत: किसी प्रकार के नित्य शासन की आवश्यकता नहीं होती है, केवल सामाजिक संहति और व्यावहारिक सौकर्य्य को बनाए रखने के लिए समाज का केन्द्र माना हुआ कोई दक्ष जन-समुदाय सौहृद शासन करता है तो राज्य ब्राह्म कहा जाता है।

ब्राह्मराज्य में लोगों में अखण्ड साम्यभाव और पूर्ण आनन्द छाया रहता है, श्री सोलह कलाओं से सर्वत्र विराजी रहती है. अत: उनकी वाञ्छा केवल विश्वजन्या बुद्धि के लिए होती है, विश्वरूपा सहानुभूति और महासङ्कल्पशक्ति उनमें ऐसी व्याप्त रहती है कि उनकी समस्त चेष्टा समस्त उद्योग आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सबको तृप्त करने के लिए होता है। वे न किसीके देश को ताकते हैं, न कोई उनके देश को ताकता है।

इस राज्य का चित्र महालयपक्ष के पहले नौ दिनों में खिचा रहता है जब कि घर-घर देवर्षि पितृ मानवों की, जन्मजन्मातर के बान्धवों और मित्रों की, समद्वीप निवासियों की, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियों की तृप्ति और सुखशान्ति चाही जाती है, सर्वत्र एक प्रकार के नवीन अन्नों से अतिथि सत्कार होता है, सर्वत्र परस्पर प्रेमपूर्वक निमन्त्रण होते हैं।

जब समाज में विराट् कहीं कहीं निर्बल हो जाता है, दैवीसम्पद् समष्टि रूप से विराजी नहीं रहती है, सार्वत्रिक समभाव में कुछ त्रुटि आ जाती है तथापि कोई किसी से छोटा-बड़ा नहीं समझा जाता है, सत्त्व का ह्रास, रजस् की वृद्धि होने लगती है, जिसके कारण समाज की अवस्था कहीं कहीं जटिल हो जाती है; अतः अति मृदुल नित्य शासन की आवश्यकता होती है। आसुरी सम्पद् के प्राबल्य को रोके रखने के लिए दैवीसम्पद्युक्त विशेष जनसमुदाय के मतानुसार ऋजु उदार स्वतन्त्र शासन हुआ करता है तो राज्य आर्ष कहा जाता है।

आर्ष राज्य में प्रायः ब्राह्म राज्य की सी बातें होती हैं किन्तु साम्यभाव किञ्चित् खण्डित हो जाता है, विश्वजन्या बुद्धि में कुछ शैथिल्य आ जाता है, शक्तिसंचय की उनको कुछ आवश्यकता जान पड़ती है। महालयपक्ष के उत्तर छह दिनों में इस राज्य का चित्र खिचा रहता है, जबकि पहले को सी विश्व तृप्तिकामना और वैसा अतिथि-सत्कार और वैसा परस्पर निमन्त्रण केवल कहीं-कहीं देखने में आते हैं, सर्वत्र शक्ति पूजा के लिए तैयारी होने लगती है।

जब समाज में विराट् कहीं-कहीं खण्डित हो जाता है, दैवीसम्पद् का अधिक ह्रास होने लगता है, कहीं समभाव और कहीं विषम भाव देखा जाता है, गुणभेद के अनुसार लोग छोटे बड़े माने जाने लगते हैं, सत्व और रजस् बराबर होते हैं जिसके कारण समाज की अवस्था सर्वत्र कुछ कुछ जटिल हो जाती है; अतः मृदुल नित्य शासन की आवश्यकता होती है, रजस् से उत्पन्न हुई सामाजिक जटिलता को सुलझाने के लिए विशेषगुणवाले लोगों से चुने हुए दैवीसम्पद्युक्त विशेष जन समुदाय के इच्छानुसार ऋजु उदार कौलपत्यशासन हुआ करता है तब राज्य प्राजापत्य कहा जाता है।

प्राजापत्य राज्य में साम्यभाव वैसा ही रहता है कि जैसा आर्ष राज्य में किन्तु लोगों को नेताओं की आवश्यकता होने लगती है। उनमें विश्व-जन्या बुद्धि बहुत कम रह जाती है, अन्तर्जातीय समस्या के उपस्थित होने के कारण सर्वत्र दैशिकधर्म की चर्चा होने लगती है, घर-घर शक्ति की उपासना होने लगती है, लोगों के मन में दिग्विजय की लालसा होने लगती है। महालय पक्ष का अन्त होकर नवरात्र का आरम्भ हो जाता है, सब बड़े घरों में देवासुर संग्राम की चर्चा होने लगती है, सर्वत्र

दुर्गापूजा होने लगती है, सर्वत्र "रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि" की ध्वनि गूँजने लगती है।

जब समाज में विराट् कहीं कहीं अन्तर्लीन हो जाता है, दैवीसम्पद् कम रह जाती है, विषमभाव का आधिक्य हो जाता है। गुण कर्म के अनुसार लोग छोटे-बड़े समझे जाते हैं, सत्व की अपेक्षा रजस् अधिक होता है जिसके कारण समाज की अवस्था जटिल हो जाती है; अतः यथोचित मृदुल नित्य शासन की आवश्यकता होती है, रजस् से उत्पन्न हुई सामाजिक जटिलता को सुलझाने के लिए दैवीसम्पद्-युक्त अधिष्ठाता के मतानुसार दैवीसम्पद्युक्त अन्वयागत जन समुदाय के इच्छानुसार ऋजु उदार कौटुम्बिक नित्य शासन होता है तब राज्य दैव कहा जाता है।

दैवराज्य में सब बातें प्राजापत्य राज्य की सी होती हैं किन्तु लोगों को अगुओं के बदले शासकों की आवश्यकता होने लगती है, सञ्चित हुई शक्ति का निरोध न हो सकने के कारण घर-घर शस्त्रपूजा होने लगती है, दिग्विजय के लिए प्रस्थान हो जाता है। विजयादशमी के दिन इस राज्य का चित्र खिचा रहता है। इस दिन अब तक बड़े बड़े घरों में शस्त्र पूजे जाते हैं, घोड़े सजाए जाते हैं, राजाओं की सेनाएँ सन्नद्ध की जाती हैं।

जब समाज में कहीं कहीं विराट् का लोप हो जाता है, दैवीसम्पद् आसुरी सम्पद् को आक्रान्त किए रहती है, विषमभाव का आधिक्य हो जाता है, गुण कर्म के अनुसार लोग छोटे बड़े समझे जाते हैं, सत्व की अपेक्षा रजस् अधिक हो जाता है, और कहीं कहीं तमोगुण भी दृष्टिगोचर होने लगता है जिसके कारण समाज की अवस्था जटिल और विषम हो जाती है; अतः न बहुत मृदुल और न बहुत कठोर नित्यशासन की आवश्यकता होती है। रजस् से उत्पन्न हुई जटिलता को सुलझाने, तमोगुण की वृद्धि को रोकने के लिए गुणवानों का आदर करनेवाले प्रजा के अनुकूल रहनेवाले दैवीसम्पद्युक्त अन्वयागत व्यक्ति के आज्ञानुसार उदार नित्यशासन होता है तो राज्य मानव कहा जाता है।

मानव राज्य में दैवराज्य के सब गुण होते हैं किन्तु दिग्विजय से प्राप्त हुई अतिरिक्त सम्पत्ति के भर जाने के कारण लोगों की रुचि विलास और आडम्बर की ओर होने लगती है, अनेक कलाकौशलों का आविर्भाव होने लगता है, घर घर भगवती कमला के पदचिह्न दिखाई देते हैं, दुर्गा पूजा के बदले लक्ष्मीपूजा होने लगती है। इस राज्य का चित्र आश्विन पूर्णिमा और कार्तिकी अमावस्या के दिन दिखाई देता है जबकि घर-घर सफाई और सजावट होती है, सर्वत्र दीपोत्सव मनाया जाता है, सोलह प्रकार की शृङ्गार सामग्री और सोलह प्रकार के सिक्कों से भगवती पद्मालया का अर्चन किया जाता है।

जब समाज में विराट् समष्टि रूप से शिथिल हो जाता है, दैवीसम्पद् आसुरी सम्पद् से आक्रान्त हो जाती है, सर्वत्र विषमभाव रहता है, गुणकर्म का विचार न होकर आर्थिक अवस्था और अपकरण शक्ति के अनुसार लोग छोटे बड़े समझे जाते हैं, सत्व की अपेक्षा तमस् और तमस् की अपेक्षा रजस् अधिक होता है, जिसके कारण समाज की अवस्था शोचनीय हो जाती है. अपना अधिकार बनाए रखने के लिए प्रजा के मत और हित की उपेक्षा करनेवाले आसुरी सम्पद्युक्त और अन्वयागत व्यक्ति के आज्ञानुसार कुटिल और अनुदार नित्यशासन होता है तो राज्य आसुर कहा जाता है।

आसुर राज्य में शासक और प्रजा के बीच नित्य अर्थवैषम्य रहता है, शासक को अपने पद की और प्रजा को अपनी टोपी की चिन्ता बनी रहती है। प्रजा को दबाए रखने के लिए बल, त्रास और कौटिल्य का प्रयोग होता है। अनेक उपायों से प्रजा का धन हरण होने लगता है। विविध प्रकार की कूटनीति का आविर्भाव होने लगता है। दुर्बल लोग बलवानों के अत्याचार से दुःखी होने लगते हैं, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' होने लगती है; साधु-सज्जनों का अपमान और चलते पुर्जों का मान होने लगता है, विदेशियों को छिद्र मिलने लगता है।

जब समाज में विराट् समष्टि रूप से विपर्यस्त होकर अनेक केन्द्रों में विभक्त हो जाता है, आसुरी सम्पद् की अत्यन्त वृद्धि हो जाती है, सर्वत्र अत्यन्त विषमभाव रहता है, राज्यानुग्रह के अनुसार लोग छोटे-बड़े समझे जाते हैं। सत्व का अत्यन्त ह्रास होकर रजस् का भी ह्रास होने लग जाता है और तमस् की वृद्धि होने लगती है और जब बल से अथवा कौटिल्य से पद पाए हुए आसुरी सम्पद् युक्त अधिष्ठाता के इच्छानुसार प्रजा के मत और हित की उपेक्षा करनेवाले अन्वयागत जन-समुदाय के आज्ञानुसार शासन होता है तब राज्य याक्ष कहा जाता हैं।

याक्ष राज्य में आसुर राज्य की सब बातें होती हैं, किन्तु समाज बहुनायक होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है, शासक और प्रजा दोनों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, लोगों को अन्न वस्त्र का कष्ट होने लगता है, राज्य किंकर्त्तव्यमूढ और दुर्बल हो जाता है, अतः देश में विदेशियों की तूतियों का शब्द सुनाई देने लगता है।

जब समाज में विराट् समष्टिरूप से मूर्च्छित हो जाता है, राक्षसी सम्पद् का अर्थात् उत्पात और कौटिल्य का आधिक्य होता है, चलते-पुर्जों का मान होने लगता है, रजस् की अपेक्षा तमस् अधिक हो जाता है, स्वार्थपरायण उत्पात अथवा कौटिल्य से उच्च पद पाए हुए भीरु और स्वार्थी जनसमुदाय के आज्ञानुसार शासन होता है तब राज्य राक्षस कहा जाता है।

राक्षस राज्य में याक्ष राज्य के सब दुर्गुण होते हैं किन्तु दुःखों के असहनीय हो जाने के कारण प्रजा विप्लव मचाना आरम्भ कर देती है, भिन्न-भिन्न प्रकार के

अनिष्टों का आविर्भाव होने लगता है, देश में सरासर विदेशियों का अधिकार होने लगता है।

जब समाज में विराट् लुप्तप्राय हो जाता है, पैशाची सम्पद् का अर्थात् दास्य और मूर्खता का आधिक्य हो जाता है, उत्पाती और उपद्रवी लोगों का मान हुआ करता है, तमस् की बहुत वृद्धि हो जाती है, प्रजा के प्रत्यर्थी, परस्पर प्रतिद्वन्द्वी सदा चिन्ताकुल, भीरु, स्वार्थी और कुटिल जनसमुदाय की कुटिलनीति के द्वारा शासन होता है तो राज्य पैशाच कहा जाता है।

पैशाच राज्य में राक्षस राज्य के सब दुर्गुण होने के अतिरिक्त देश की ऐसी कुदशा होती है कि प्रजा को अपने लोगों की अपेक्षा पराये लोग अच्छे लगने लगते है, परस्पर द्वेष होने लगता है, एक को दुःख देकर दूसरा सुखी होने लगता है, विदेशी निमन्त्रित होकर बुलाये जाने लगते हैं।

जब समाज में विराट् का लोप अथवा अन्तर्धान हो जाता है, पाशवी सम्पद् का अर्थात् उदरपरायणता और विषयभोगेच्छा का आधिक्य हो जाता है, नीच स्वार्थी नेतृमानियों के बबूलों से समाज अनेक संघों में विभक्त हो जाता है। कभी दो-चार छोटे बबूलों के मिलने से एक बड़ा बबूला बन जाता है और कभी एक बड़ा बबूला फूट कर दो-चार छोटे बबूले बन जाते हैं, सर्वत्र अर्थवैषम्य और पशुबुद्धि के कारण सबका एकमत होकर कोई काम करना कठिन हो जाता है, सर्वत्र पेट पालने की धुन छायी रहती है, भय-बल कौटिल्य-प्रलोभन से अलग-अलग शासन हुआ करता है तो राज्य पाशव कहा जाता है।

पाशव राज्य में पैशाच राज्य के सब दुर्गुणों के अतिरिक्त लोग ऐसे नीच और दुर्बुद्धि हो जाते हैं कि वे पराये काँच की निछावर में अपनी मणियों को लुटा देने लगते हैं, पेट की समस्या अत्यन्त जटिल हो जाती है जिससे सबके होश उड़े रहते हैं, समाज में सर्वत्र "इरिषा परुषाच्छर लोलुपता भरिपूरि रही समता बिगता"।

राज्यों के वर्णन में यह दिखाया गया है कि पहिले पाँच राज्य के संस्कार अन्तर्हित हुए सूर्य की गिरिसानुगत लालिमा के समान जातीय रीति और उत्सवों में बहुत दिनों तक दिखाई देते हैं, किन्तु दूसरे राज्यों के संस्कार विद्युत्प्रभा के समान उन राज्यों के लोप होते ही नष्ट हो जाते हैं। कारण इसका यह है कि जब किसी जाति में विराट् शक्ति रहती है तब उसकी जातीय महिमा और जातीय निष्पत्ति उसके रीति और उत्सवों में मिल जाया करती हैं और बहुत दिनों तक उन महिमाओं और निष्पत्तियों की झलक जातीय उत्सवों में दिखाई देती है। किन्तु जब विराट् का लोप अथवा अन्तर्धान हो जाता है तब जाति का अधःपतन होने लगता है, वह ऐक्यशून्य और छिन्न-भिन्न होकर निश्चेतन और निश्चेष्ट हो जाती है, उसको पेट

पालने और दिन काटने के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं; अतः उस जाति में कोई ऐसी बात नहीं होती जो जातीय उत्सवों में मनाई जाने के योग्य हो, न उसमें अपनी जातीय महिमा और निष्पत्ति को जातीय रीति से मना सकने की शक्ति और श्रद्धा होती है। अतः दूसरे पाँच प्रकार के राज्यों के संस्कार जातीय रीति और उत्सवों में नहीं देखे जाते हैं।

इन दस प्रकार के राज्यों के संयोग से बहुत प्रकार के राज्य हो जाते हैं; किन्तु उक्त दस प्रकार के राज्यों में से जिसका जिसमें अधिकांश होता है वह उसी के अन्तर्गत समझा जाता है; यथा यदि किसी राज्य में कुछ अंश मानव राज्य का हो और अधिकांश आसुर राज्य का हो तो वह आसुर राज्य के अन्तर्गत समझा जाता है, अथवा यदि किसी राज्य में अधिकांश मानव राज्य का और अल्पांश आसुर राज्य का हो तो वह मानव राज्य के अन्तर्गत समझा जाता है।

उक्त दस प्रकार के राज्यों में पहिले पाँच भद्र राज्य और दूसरे पाँच भ्रष्ट राज्य कहे जाते हैं, भ्रष्ट राज्य विलोम रीति से भद्र राज्यों के ही भ्रष्ट रूप होते हैं, यथा पाशव राज्य ब्राह्मराज्य का, पैशाच राज्य आर्ष राज्य का भ्रष्टरूप होता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जब ब्राह्म आदि भद्र राज्यों का पतन होता है तब वे तुरन्त पाशव आदि भ्रष्ट राज्यों में परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु समझना केवल यह चाहिए कि मनुष्य समाज की उन्नति की जो कोटि ब्राह्म आदि राज्यों से सूचित होती है, अवनति की वही कोटि पाशव आदि राज्यों से सूचित होती है, अर्थात् सामाजिक उन्नति की जो कोटि, भद्र राज्यों से सूचित होती है सामाजिक अवनति की वही कोटि विलोम रीति से भ्रष्ट राज्यों से सूचित होती है। सामाजिक उन्नति और अवनति की एक ही कोटि सूचित करने और कुछ कुछ बाह्यरूप में समानता होने से भद्रराज्यों का अपने भ्रष्टरूप राज्यों से कुछ सादृश्य नहीं होता है। किन्तु मानव राज्य का आसुर राज्य से रूप में बहुत सादृश्य होता है और जब मानव राज्य का पतन होता है तब वह अपने भ्रष्टरूप आसुर राज्य में परिवर्तित हो जाता है; राज्य में भेद केवल तत्त्व का होता है। तत्त्वभेद के अनुसार ही उनमें वास्तविक भेद हुआ करता है, जैसा तत्त्व होता है वैसा राज्य होता है, तत्व के परिवर्तन के अनुसार ही राज्यों में भी परिवर्तन होता है।

प्रत्येक राज्य में दो बातें होती हैं :—एक तत्त्व और दूसरा रूप।

समाज दैवी आसुरी राक्षसी पैशाची पाशवी सम्पदों की मात्रा राज्य का तत्त्व कहा जाता है।

राज्यतत्त्व पाँच प्रकार के होते हैं :—**दैव, आसुर, राक्षस, पैशाच, पाशव।**

समाज की शासक–विधान-पद्धति अर्थात् शासक बनाने की रीति राज्य का रूप कहा जाता है।

राज्यरूप तीन प्रकार का होता है :—दक्ष शासन, प्रतिनिधि शासन, शासकज शासन।

कार्य साधन में प्रवीण लोगों के हाथ में शासन होना दक्ष शासन कहा जाता है।

समाज के प्रतिनिधियों के हाथ में शासन होना प्रतिनिधि शासन कहा जाता है।

वंशपरम्परागत लोगों के हाथ में शासन का होना शासकज शासन कहा जाता है।

हमारे आचार्यों के मतानुसार राज्य में रूप की अपेक्षा तत्त्व अधिक आवश्यक पदार्थ समझा जाता है। तत्त्व के अनुसार ही वहुधा राज्य का रूप होता है, जव तत्त्व पूर्णतया दैव होता है अर्थात् जव दैवी सम्पद् समाज में समष्टि रूप से व्याप्त रहती है तो राज्य ब्राह्मरूप में रहता है और जब दैवी तत्त्व का लोप होकर पाशव तत्त्व का आधिक्य होता है अर्थात् जव समाज में दैवीसम्पद् कां लोप होकर पाशवी सम्पद् समष्टिरूप से व्याप्त होती है तो राज्य पाशवरूप में होता है। कारण इसका यह है कि दैवी सम्पत् के उदयावपात के अनुसार विराट् का भी उदयावपात होता है और जव विराट् समाज में पूर्णरूप से उदय हुआ रहता है तो समाज में कहीं किसी प्रकार का अर्थ विपर्यय और भेद नहीं रहता है। अतः ऐसे समाज में किसी प्रकार के नित्य-शासन की आवश्यकता नहीं होती है। और जब समाज में विराट् का लोप अथवा अन्तर्धान हो जाता है तो समाज में स्वार्थ का प्राबल्य हो जाता है जिससे समाज तितर बितर होकर अत्यन्त दुर्वल और वुद्धिहीन हो जाता है। जिसमें कुछ बल और कुछ कौटिल्य होता है वही समाज का अग्रसर और शासक बन बैठता है। अपरञ्च दैवीसम्पद से मनुष्य का आदर्श ऊँचा और तदितर सम्पदों से नीचा रहता है। आदर्श के अनुसार ही मनुष्यों के गुणकर्म हुआ करते हैं, जैसे गुण कर्मवाले मनुष्य होते हैं वैसा उनका समाज होता है और जैसा समाज होता है वैसा राज्य होता है। अतः दैवीसम्पद् के समष्टिरूप से व्याप्त रहने से समाज का आदर्श और उसके गुणधर्म वड़े ऊँचे रहते हैं, ऐसे समाज में सर्वत्र सख्यभाव रहता है, ऐसी अवस्था में ब्राह्म राज्य के अतिरिक्त और कोई राज्य हो नहीं सकता और जब दैवी सम्पद् का समष्टिरूप से ह्रास होने लगता है तो समाज का आदर्श और उसके गुणकर्म नीच होने लगते हैं। ऐसा समाज रजस् और तमस् के वशीभूत होकर पशुवृत्ति को धारण करने लगता है, जिसके हाथ में दण्ड होता है वही समाज का स्वामी बन बैठता है। दैवीसम्पद्वालों के कर्म स्वभावतः "वहुजनहिताय वहुजनसुखाय" हुआ करते हैं, तदितर सम्पद् वालों के कर्म स्वहिताय स्वसुखाय हुआ करते हैं, अतः दैवीसम्पद् के

समष्टि रूप से व्याप्त रहने से समाज में परोपकार का चलन हो जाता है, शासक और समाज में, व्यक्ति और व्यक्ति में परस्पर हितसाधन हुआ करता है, कभी कहीं किसी प्रकार का भेद और अर्थ वैषम्य नहीं होता है, सर्वत्र साम्य और सन्तोष छाया रहता है, जो बातें केवल ब्राह्मराज्य में पाई जाती हैं। और जब दैवीसम्पद् का पूर्णरूप से लोप हो जाता है तब समाज में सर्वत्र स्वार्थसाधन का चलन हो जाता है, शासक और समाज में, व्यक्ति और व्यक्ति में परस्पर अर्थ-वैषम्य हो जाता है, सर्वत्र वैषम्य और असन्तोष छाया रहता है, जो बातें केवल पाशव राज्य में होती हैं। दैवी सम्पद् से साम्य-वृद्धि और आसुरी सम्पद् से वैषम्य-वृद्धि होती है; अतः जिस समाज में जितनी दैवीसम्पद् होती है उसमें उतना साम्य और जितनी उसमें आसुरी सम्पद् होती है उसमें उतना वैषम्य होता है; पूर्ण साम्य से ब्राह्म राज्य की और पूर्ण वैषम्य से पाशव राज्य की उत्पत्ति होती है। संक्षेपतः दैवीसम्पद् जब समष्टिरूप से व्याप्त होती है तब विराट् शक्ति उच्च आदर्श, बहुजनहितेच्छा, साम्य-भाव पराकाष्ठा में पहुँचे रहते हैं; जब दैवीसम्पद् का लोप होने लगता है तब उक्त सद्गुणों का सङ्कोच होने लगता है और राज्य भी क्रमशः भ्रष्ट होते रहते हैं। अतः तत्त्व के भ्रष्ट होने पर केवल रूप से कोई राज्य श्रेयस्कर नहीं हो सकता है, ऐसी अवस्था में रूप चाहे कैसा ही हो किन्तु परिणाम उसका निकृष्ट ही होता है। जब तत्त्व भ्रष्ट हो जाता है तब दक्ष शासन रूप में शासन छद्म और अभिसन्धान में दक्ष लोगों के हाथ में होता है, प्रतिनिधिशासन रूप में प्रतिनिधान केवल विशेष व्यक्तियों का हुआ करता है, शासकज शासन रूप में शासक और समाज में अर्थ-वैषम्य हुआ करता है; यूरप इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है जो इन दिनों एक प्रकार से राज्यरूपों की मानों परीक्षणशाला बना हुआ है। राज्यों की इस महापरीक्षण शाला में शासकज शासन और प्रतिनिधिशासन की परीक्षा हो चुकी है और अब दक्षशासन रूप की परीक्षा हो रही है; किन्तु दशा यूरप की किसी राज्य रूप में अभीष्ट नहीं हुई, अनीष्ट होना क्या वह इससे भी अधिक शोचनीय होती यदि एशियाखण्ड में कुछ विशेष दुर्गुण न आ जाते, यदि स्वेज की नहर खुदते समय मिस्र भूल में न पड़ता और भारत को अपने दैशिक शास्त्र की विस्मृति न हो जाती तो आज इङ्गलिस्तान के अर्थशास्त्र और दैशिक शास्त्र बिलकुल दूसरे ढङ्ग के होते। यूरप की इन दिनों जो कुछ आपेक्षिक सुदशा देखी जा रही है वह उसके राज्यरूपों का परिणाम नहीं है वरन् वह संसार के कई अन्य देशों के दुर्गुणों का परिणाम है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जातियों का उदय सदा केवल आत्म गुणों के कारण ही नहीं हुआ करता है वरन् कभी-कभी वह अपनी आसङ्गत जातियों के अवगुणों के कारण भी हुआ करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना तत्त्व की उन्नति हुए राज्य और समाज की वास्तविक उन्नति कदापि नहीं हो सकती। जैसा-जैसा राज्य तत्त्व में परिवर्तन होता है वैसा-वैसा समाज में उसका परिणाम होता है।

सब भद्र राज्यों में अधोलिखित बातें सर्वसामान्य होती हैं:—

(१) प्रजा के सुख-दुःख से राज्य को सुख-दुःख होना।

(२) शासन का सदा प्रजा के अनुकूल रहना।

(३) शासननीति का स्पष्ट और सरल होना।

(४) शासक का निःशङ्क और प्रजा का निर्भय रहना।

(५) श्रद्धा, सन्तोष और विश्वास का समष्टिगत होना।

भ्रष्ट राज्यों में अधोलिखित बातें सर्वसामान्य होती हैं:—

(१) प्रजा के सुखदुःख में राज्य का उदासीन रहना अथवा उसको विपरीत-वेदना होना।

(२) शासन का प्रजा से सदा अर्थविपर्यय रहना।

(३) शासननीति का कुटिल और दुर्गम होना।

(४) शासक का प्रजा से शङ्कित और प्रजा का शासक से भयभीत रहना।

(५) अश्रद्धा, असन्तोष, अविश्वास का समष्टिगत होना और बराबर उत्पात और विप्लवों का होते रहना।

भद्र राज्य और भ्रष्ट राज्यों में उक्त पाँच प्रकार के भेद होते हैं; इनके अतिरिक्त दो प्रकार के भेद और भी होते हैं:—

(१) भद्र राज्यों का परिवर्तन क्रमशः क्रमपूर्वक होता है किन्तु भ्रष्ट राज्यों का परिवर्तन शीघ्र और बिना क्रम के होता है।

(२) भद्र राज्यों की स्थिति प्रजा की समृद्धि और अभ्युदय पर निर्भर होती है, किन्तु भ्रष्ट राज्यों की स्थिति कूटनीति पर निर्भर होती है।

यवनाचार्य अरिष्टोटल के मतानुसार भ्रष्ट राज्यों की स्थिति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :

(१) प्रजा को दरिद्री और नीचवृत्ति बनाना;

(२) लोगों में परस्पर विश्वास नहीं होने देना;

(३) प्रजा को निस्सहाय और पौरुषहीन बनाकर किसी काम का न रखना।

क्योंकि कोई दरिद्री और नीच वृत्ति व्यष्टि अथवा समृष्टि राज्य के विरुद्ध उठ नहीं सकती; भ्रष्ट राज्यों की कुशल तभी तक होती है कि जब तक लोगों में परस्पर विश्वास नहीं होता; निस्सहाय और पौरुषहीन अवस्था में राज्य का प्रतिरोध करना असम्भव होता है और असम्भव कार्य में कोई हाथ डालना नहीं चाहता। अतः लोगों के दरिद्री, नीचवृत्ति, परस्पर अविश्वासी, निस्सहाय और पौरुषहीन होने से किसी के मन में राज्य का प्रतिरोध करने का विचार उठ नहीं सकता। अतः इन बातों पर भ्रष्ट

राज्यों की स्थिति निर्भर होती है; अतः ये तीन बातें अर्थात् लोगों को दरिद्री और नीचवृत्ति बनाना, लोगों में परस्पर विश्वास नहीं होने देना, प्रजा को निस्सहाय और पौरुषहीन बनाना भ्रष्ट राज्य का मुख्य उद्देश्य होता है। विस्तारपूर्वक यह कहना चाहिए कि उच्च आकांक्षावाले लोगों को दबाए रखना; वश में न आने वाले तेजस्वी लोगों को निकाल बाहर करना, लोगों को मेलमिलाप, समाजसमिति, और शिक्षासम्बन्धी बातें न करने देना; नगर में आए हुए विदेशियों की बड़ी देखभाल करना, उनका पीछा करना, लोगों को दासों के समान रख कर उनमें ऊँचे विचार नहीं होने देना, लोगों के विचारों और कामों का पता लगाने के लिए सदा गुप्तचरों को फैलाए रखना, जहाँ जहाँ सभाएँ होती हैं वहाँ वहाँ पहले से ही जासूसों को पहुँचा देना, जासूस और मुखबिरों का डर फैलाकर लोगों का खुलकर बातें करना बन्द करा देना; लोगों के उद्योग का तत्काल पता लगा लेना, उनमें गाली-गलौज, लड़ाई-झगड़ा करवाना, सखा-मित्रों में, किसान-जमीन्दारों में, रिआया-सर्दारों में, फूट कराना; प्रजा को सदा तङ्ग रखना, करों को सदा बढ़ाते रहना, लड़ाई झगड़ों में उलझा कर प्रजा का ध्यान सदा बटाए रखना, स्त्रीजनों को स्वैरिणी बनाने और गुलामों को खुश रखने का उद्योग करना ताकि स्त्रीजन अपने पुरुषों के और गुलाम अपने मालिकों के रहस्यों को खोल दें; उल्लू मुखिया और नीच खुशामदखोरों का मान करना; दुष्ट नीच चाटुकारों को अच्छा समझना, उदार स्वातन्त्र्यप्रेमी लोगों से घृणा करना, उनके साथ निष्ठुर व्यवहार करना; संक्षेपतः उन सब उपायों को काम में लाना चाहिए कि जिनको पारसी और बर्बर राज्य दासत्व को चिरस्थायी करने के लिए काम में लाते हैं।

भ्रष्ट राज्यों को इन उक्त उपायों के अतिरिक्त अधोलिखित उपाय भी काम में लाने चाहिए। भ्रष्ट राज्य को भद्र जैसा भासमान होने का यत्न करना; अपनी शक्ति और अधिकारों को अक्षत रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न करना; इच्छुक अनिच्छुक सबको अपने अधिकार में रखना; युक्ति और चातुर्य्य से अपनी सब बातों में भद्र राज्य का पानी चढ़ाए रखना, सार्वजनिक अर्थ की बड़ी खबरदारी सी करना; जमा-खर्च का ठीक हिसाब रखना; ऐसा दिखलाए रहना कि प्रजा से कर रूप में प्राप्त होनेवाला अर्थ प्रजा के ही काम में लगाया जा रहा है, न कि किसी निजी काम में; प्रजा को आक्रान्त रखने के लिए सदा ऊँची और प्रभावशालिनी आकृति रखना; नीतिज्ञों का रूप धारण किये रहना; भोगविलासों का परिमित रूप से होना अथवा कम से कम प्रजा को ऐसा दिखलाना; छल और आभास से लोगों के मन में इस बात का विश्वास करा देना कि सबके शील की रक्षा हो रही है; पूर्व राज्य की अपेक्षा अपने को अच्छा दिखलाने का यत्न करना, नगरों को सुन्दर और समृद्ध रखने का यत्न करना ताकि वह राज्य प्रजा-रक्षक-सा जान पड़े, सदा आस्तिक वेष धारण किए

रहना, स्वतन्त्र न होने देने के लिए गुणवानों का भी आदर करना ताकि वे अपने लोगों से अलग होकर विदेशियों में मिलने का यत्न न करें। भलाई अपने हाथ से करना और बुराई अपने अधीनों के हाथ से करवाना; किसी को बहुत नहीं बढ़ने देना और विशेष विशेष व्यक्तियों को तो बिलकुल ही नहीं बढ़ने देना; लोगों में परस्पर मेल और सहानुभूति नहीं होने देना, किसी बड़े पद अथवा अधिकार में रखने के लिए निस्तेज मनुष्यों को चुनना; धीरे धीरे अव्यक्त रूप से प्रजा के सत्वों का हरण करना; प्रजा के साथ किसी प्रकार शारीरिक असभ्य व्यवहार न करना, अपने प्राणों की परवाह न करनेवाले लोगों से सावधान रहना; धनी और निर्धन दोनों की बराबर रक्षा करना; एक में दूसरे की हानि कर सकने की शक्ति न होने देना; विशेष सामर्थ्यशाली मनुष्यों को अपने में मिला लेना, इस उपाय से सब प्रकार के विरोध और विप्लव एकदम शान्त कर दिये जा सकते हैं।

इसी प्रकार के उपाय हमारे कणिक और कौटिल्य नामक आचार्यों ने भी कहे हैं।

किन्तु भ्रष्ट राज्य चाहे कैसी ही कूटनीति को काम में लाएँ किन्तु वे चिरञ्जीव नहीं हो सकते; क्योंकि छद्माचार बहुत दिनों तक सहारा नहीं दे सकता, ऐसे राज्य या तो प्रजा की क्रोधाग्नि में भस्म हो जाते हैं अथवा उनके अभिनय में पटाक्षेप होकर देशरूपी रङ्गशाला में पररराज्य का प्रवेश हो जाता है।

पररराज्य मुख्यतः दो प्रकार का होता है : (१) दस्रिमक और (२) द्वौमुपायणक।

दस्रिमकराज्य उस राज्य को कहते हैं कि जिसमें शासन ऐसे विदेशियों के हाथ में होता है कि जिन्होंने अपने देश से सम्बन्ध बिलकुल विच्छेद करके अपने को शासित देश से संयुक्त कर लिया हो; यथा भारत में मुगल राज्य।

पुनः दस्रिमक राज्य के भी दो भेद होते हैं:—(१) गोधुक् और (२) महिषधुक्।

गोधुक् उस दस्रिमक राज्य को कहते हैं कि जो प्रजारूपी गौ को दुःख दिये विना, विना उसकी सुखसमृद्धि की उपेक्षा किये, उससे दुही हुई विभूति का भोग करता है; यथा भारत में अकबर का राज्य।

महिषधुक् उस दस्रिमक राज्य को कहते हैं जो प्रजापीडन करके, प्रजा के हिताहित की उपेक्षा करके उससे बलात् निचोड़ी हुई विभूति का भोग करता है; यथा भारतमें अल्लाउद्दीन का राज्य कहा जाता है।

द्वौमुपायणक राज्य उस राज्य को कहते हैं कि जिसमें शासन ऐसे विदेशियों के हाथ में होता है कि जिनका अपने देश से सम्बन्ध पूर्ववत् विद्यमान रहता है और जो शासित देश को अपनी भोग्य वस्तु समझते हैं। यथा अफ्रिका में यूरोपवालों की रियासतें।

पुनः द्वौमुपायणक राज्य के भी दो भेद होते हैं :— (१) विशसितृक और (२) व्याघक।

विशसितृक उस द्वौमुपायणक राज्य को कहते हैं कि जो विधिपूर्वक क्रमशः शासित जाति को नष्ट करके अपनी जाति को पुष्ट करता है; यथा वैदिक काल में दस्युओं के ऊपर आर्यों का राज्य होना कहा जाता है।

व्याघक उस द्वौमुपायणक राज्य को कहते हैं कि जो बिना क्रम बिना नियम शासित जाति को नष्ट करके अपनी जाति को पुष्ट करता है; यथा अमेरिका में स्पेन का राज्य।

इन चार प्रकार के राज्यों के संयोग से और भी अनेक प्रकार के परराज्य होते हैं।

परराज्य भेद के मुख्य दो कारण हैं, एक शासन का अपने देश से सम्बन्ध और दूसरा शासित जाति में विराट् की अवशिष्ट मात्रा। शासकों के स्वदेश सम्बन्ध के अनुसार उनका शासित जाति से अर्थवैषम्य होता है; क्योंकि जिस परजातीय शासक का अपने देश से जितना सम्बन्ध बना रहता है उसको उतना अपनी जाति का भरण-पोषण करना पड़ता है और तदनुसार शासित जाति से उनका अर्थवैषम्य होता है। जब परजातीय शासक का अपने देश से सम्बन्ध छूट जाता है तब उनके अपने कुछ व्यक्तियों का भरणपोषण करना पड़ता है, न कि अपनी समस्त जाति का। अतः शासित जाति से उसका बहुत अर्थवैषम्य होता है। शासित जाति में विराट् जितना अधिक अवशिष्ट रहता है उतना परजातीय शासक उसको कम दबा सकते हैं; क्योंकि शेर के बच्चे से कोई छेड़खानी करना नहीं चाहता है, न किसी की इच्छा काँटों में चलने की होती है, न कोई सविराट् जाति को रुष्ट करने का साहस रखता है; किन्तु बैल के कन्धे पर सभी जुआ रखते हैं, सभी मखमलों में चलना पसन्द करते हैं, विराट्हीन जाति को सभी रौंद लेते हैं। अतः शासित जाति के अवशिष्ट मात्रानुसार परराज्य की शासन पद्धति हुआ करती है। अतः यदि परजातीय शासक का अपने देश से सम्बन्ध छूट गया हो और यदि शासित जाति में विराट् की शेषांशमात्रा अधिक हो तो राज्य गोधुक् रूप में रहता है, यदि शासित जाति से विराट् की शेषांशमात्रा कम हो तो राज्य महिषधुक् रूप में होता है। यदि शासकों का अपने देश से सम्बन्ध पूर्ववत् बना हो और यदि शासित जाति में विराट् की शेषांशमात्रा अधिक हो तो राज्य विशसितृक रूप में होता है, यदि शासित जाति में विराट् की शेषांशमात्रा कम हो तो राज्य व्याघक रूप में होता है।

दत्रिमक और द्वौमुपायणक राज्यों में मूल में केवल यह एक छोटा भेद होता है कि दत्रिमक राज्य का अपने देश से कुछ सम्बन्ध नहीं होता हैं, द्वौमुपायणक राज्य

का अपने देश से सम्बन्ध पूर्ववत् बना रहता है; किन्तु परिणाम में इन राज्यों में बड़े महत्त्व के भेद होते हैं; एक यह कि दत्रिमक राज्य में शासित जाति के अर्थ—साधनोपायों में बहुधा परिवर्तन नहीं होता, वरन् कभी-कभी वे पहले की अपेक्षा सुधर जाते हैं; किन्तु द्वौमुपायणक राज्य में शासित जाति के अर्थासाधनोपाय दिन-दिन क्षीण होते जाते हैं; दूसरा यह कि दत्रिमक राज्य कभी-कभी कुछ पीढ़ियों पीछे स्वराज्य में परिवर्तित हो जाते हैं अथवा वे स्वराज्य जैसे हो जाते हैं; क्योंकि अपने देश से सम्बन्ध छूट जाने से दत्रिमक राज्य के बड़े छोटे कर्मचारी प्रायः शासित जाति के ही लोग होते हैं, उसकी सब प्रकार की कार्यवाही प्रायः शासित जाति के लोगों के द्वारा ही होती है, उसका हिताहित बिलकुल शासित जाति के लोगों के हाथ में होता है, विराट् के जागृत होते ही अनायास वह स्वराज्य में बदल जाता है, अथवा स्वयं स्वराज्य का रूप धारण कर लेता है, किन्तु द्वौमुपायणक राज्य कभी स्वराज्य में परिवर्तित नहीं होते हैं, और जब होते भी हैं तब वे बिलकुल एक दूसरे प्रकार के स्वराज्य होते हैं, उनसे शासित जाति का कुछ सम्बन्ध नहीं होता, वे शासक जाति के लोगों के स्वराज्य होते हैं, जब शासित जाति नष्टप्राय हो जाती है, उसकी जागृति की सम्भावना जाती रहती है और शासक जाति के लोग बल और संख्या में पर्याप्त हो जाते हैं। उनको सर्वथा अपने मे भरोसा हो जाता है, रहते-रहते उनको वहाँ पीढ़ियाँ बीत जाती हैं तो वे शासित देश को अपना देश समझने लगते हैं, अपने पूर्व देश से उनकी ममता जाती रहती है, अपनी राज्य कार्यवाही में उनको अपने पूर्व देश के राज्य का हस्ताक्षेप अच्छा नहीं लगता है; अतः ये उससे स्वतन्त्र होने का उद्योग करते हैं और जब वे अपने इस उद्योग में कृतकृत्य हो जाते हैं तो उनका राज्य उनके लिए स्वराज्य में परिवर्तित हो जाता है, न कि शासित जाति के लोगों के लिए। अमेरिका के संयुक्त राज्य और आष्ट्रेलिया का रिपब्लिक इस स्वराज्य के उदाहरण हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि परराज्य बहुत दिनों तक गोधुक् रूप में नहीं रह सकता; क्योंकि गोधुक् राज्य के लिए चार बातों का संयोग होना चाहिए :—(१) राज्य की सात्विकवृत्ति, (२) राज्याधिकारियों का सदाचारी होना, (३) शासकजाति के लोगों का शासितजाति के लोगों से बल और संख्या में कम होना, (४) शासितजाति में विराट् की जागृति की सम्भावना रहना। किन्तु ऐसा संयोग बहुत दिनों तक रह नहीं सकता है; अतः गोधुक्राज्य कालान्तर में या तो स्वराज्य के अंकुर देने लगता है जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है; अथवा महिषधुक्रूप धारण करने लगता है, क्योंकि गोधुक् राज्य में शासित जाति तन्द्रालु हो जाती है, तन्द्रा के कारण उसको परशासन का अभ्यास पड़ जाता है, परशासन के अभ्यास से वह निस्तेज होती चली जाती है, निस्तेज होने से उसमें तामस भर जाता है, तमोगुण

के कारण उसके सुख, धृति और कर्म सब तामसिक हो जाते हैं। अतः सर्वथा उसका पतन होने लगता है, तारतम्य से शासक जाति का उदय होने लगता है, उसके मूल दृढ़ होते जाते हैं, उसको अपने में भरोसा होने लगता है। फलतः वह शासितजाति की उपेक्षा करने लगती है और अन्त में गोधुक् राज्य महिषधुक्रूप धारण करने लगता है। यदि महिषधुक् राज्य में शासितजाति में विराट् का उदय न हुआ और शासकजाति बहुत बढ़ चुकी हो तो फिर शासितजाति का सम्हलना कठिन हो जाता है, क्योंकि राज्य के शनैः शनैः बदलने से अधोमुखी शासितजाति को कुछ भी परिवर्तन मालूम नहीं पड़ता है, वह ऊँघती चली जाती है, वंश-परम्परा के अभ्यास के कारण उस जाति में पराधीनता एक प्रकार से अभिनिवेश होकर समा जाती है, तब यक्ष्मा काष्ठागत जाती है।

महिषधुक् राज्य में गोधुक् राज्य के समान प्रायः सब बातें होती हैं केवल मारकूट खींचातानी के कारण कभी-कभी शासित जाति चकरबकर करने लगती है जिसके कारण उसको पुचकारने के लिए शासकों को अपनी शासननीति बदलनी पड़ती है।

विसर्शितृक राज्य में शासकों को अपने लाभ के लिए शासितों की भौतिक सुख-समृद्धि का ध्यान बना रहता है, एवं और बातें भी गोधुक् राज्य के समान होती हैं, किन्तु शासित जाति के तेज के साथ उसकी संख्या का भी ह्रास होता चला जाता है, गोधुक् राज्य में जो अनिष्ट परिणाम एकधा और शनैः शनैः होता है वह इस राज्य में अनकेधा और शीघ्र होता है; क्योंकि गोधुक् राज्य का अर्थ-वैषम्य जाति के किसी किसी व्यक्ति से होता है; किन्तु विशसितृक राज्य का अर्थसाम्य समस्त शासितजाति से होता है।

व्याघक राज्य में खुले मैदान मारकाट हुआ करती है, किसी के शरीर और सम्पत्ति की कुशल नहीं रहती, किसी की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, सर्वत्र कष्ट और त्रास फैला रहता है; किन्तु इस राज्य में नित्य के संघर्षण के कारण शासित जाति में तेज के पुनरुदय की सम्भावना होती है, यह सम्भावना केवल तब होती है कि जब पररराज्य ने आरम्भ से ही व्याधकरूप धारण किया हो; किन्तु विशसितृक से शनैः शनैः व्याधक रूप धारण किए हुए राज्य में ऐसी सम्भावना नहीं रहती है, शनैः शनैः व्याधक रूप धारण किये हुए राज्य में शासित जाति को कुष्ठी के समान अपने अंगों का जलना मालूम नहीं होता है।

पररराज्य की शासन नीति बहुधा अधीन राष्ट्र की प्रकृति पर निर्भर होती है। अधीन राष्ट्र चार प्रकार के होते हैं:—(१) व्याघ्रक, (२) हस्तिक, (३) महिषक और (४) सुरभिक।

विराट् की शेषांश मात्रा के आधिक्य के कारण जिस राष्ट्र का शासन कठिन होता है, जिसको अपने वश में रखने के लिए व्यय बहुत करना पड़ता है किन्तु लाभ उससे कुछ भी नहीं होता है उसको व्याघ्रक राष्ट्र कहते हैं।

व्याघ्रक राष्ट्र से कोई किसी प्रकार की छेड़खानी नहीं करता, उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शासन होता है; ऐसा राष्ट्र सदा स्वतन्त्र होने की चिन्ता में लगा रहता है। एक बार स्वतन्त्र हो जाने से फिर उसको बन्धन में डालने का कोई यत्न भी नहीं करता है।

विराट् की शेषांश मात्रा की न्यूनता के कारण जिस राष्ट्र का शासन कठिन नहीं होता है जिसको अपने वश में रखने के लिये व्यय बहुत करता पड़ता है किन्तु लाभ उससे बहुत कम होता है उसको हस्तिक राष्ट्र कहते हैं।

हस्तिक राष्ट्र में अनुनय और प्रलोभन से कुछ काम लिया जाता है, उसके सुख का ध्यान रखकर शासन हुआ करता है, ऐसा राष्ट्र कुछ समय के पश्चात् स्वतन्त्रता के रस को भूल जाता है, क्रोधवशात् कभी-कभी स्वतन्त्र होने का यत्न करता है, एक बार स्वतन्त्र होने पर भी उसको फिर अनेक उपाय से बन्धन में डालने का यत्न किया जाता है।

विराट् की शेषांशमात्रा का लोप हो जाने के कारण जिस राष्ट्र का शासन सुकर होता है, जिसको अपने वश में रखने के लिए व्यय और श्रम करना पड़ता है और तदनुसार लाभ भी होता है उसको महिषक राष्ट्र कहते हैं।

महिषक राष्ट्र में प्रलोभन और ताड़न से बहुत काम लिया जाता है, उसकी आजीविका का ध्यान रख कर शासन हुआ करता है, ऐसा राष्ट्र कभी स्वतन्त्र होने का यत्न नहीं करता है और न अपने आप बन्धन का आवाहन करता है।

विराट् की शेषांश मात्रा के नष्ट हो जाने के कारण जिस राष्ट्र का शासन अत्यन्त सुकर होता है, जिसको वश में रखने के लिए कुछ व्यय और श्रम नहीं करना पड़ता और जिससे अनायास अनेक प्रकार के लाभ भी होते रहते हैं उसको सुरभिक राष्ट्र कहते हैं।

सुरभिक राष्ट्र से अनायास सब प्रकार के काम लिए जाते हैं, उसकी बिलकुल उपेक्षा और अवहेलना करके शासन किया जाता है। ऐसा राष्ट्र स्वतन्त्रता को देख कर डरता है और वह अपने आप बन्धन का आवाहन करता है।

चाहे किसी प्रकार का राज्य हो सबके उद्भव, स्थिति और प्रलय का मूल कारण एक मात्र विराट् है; जब जाति में विराट् स्वस्थ होता है तो राज्य भद्ररूप में होता है, जब विराट् अस्वस्थ होता है तो राज्य भ्रष्टरूप में होता है। जब विराट् नष्ट हो जाता है तो राज्य परकीय रूप में होता है। जब नष्ट हुए विराट् की शेषांश मात्रा

कुछ अधिक होती है तो राज्य गोधुक् रूप में होता है। जब नष्ट हुए विराट् की शेषांश मात्रा न्यून होती चली जाती है तो राज्य भी गोधुक् से महिषधुक् में, महिषधुक से विशसितृक में, विशसितृक से व्याघ्रक में बदलता जाता है।

अब मीमांसा इस बात की है कि कौन राज्य सबसे श्रेष्ठ है और कौन सबसे निकृष्ट। साधारणतः व्याघ्रक राज्य सबसे निकृष्ट समझा जाता है; किन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि बहुधा यह देखा जाता है कि जिसको प्रवाह के अनुकूल बहे चले जाने का अभ्यास पड़ जाता है वह प्रवाह के प्रतिकूल नहीं तैर सकता है, बराबर की रगड़ से निस्तेज काष्ठ में भी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है किन्तु बिना ठूसी हुई अग्नि में भी भस्म भर जाता है, एवं बिना उत्तेजित किये मनुष्य में भी तामस भर जाता है; अतः द्वौमुषायणक राज्यों में व्याघ्रक राज्य उतना अनर्थकारी नहीं होता है कि जितना विशसितृक। अतः विशसितृक राज्य सबसे निकृष्ट होता है; और द्वौमुषायणक राज्य की अपेक्षा दत्रिमक राज्य श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि:—

(१) द्वौमुषायणक राज्य का अर्थ-विपर्यय होता है समस्त शासित जाति से, किन्तु दत्रिमक राज्य का अर्थ विपर्यय होता है शासित जाति के कुछ व्यक्तियों से।

(२) द्वौमुषायणक राज्य को भरण करना होता है अपनी समस्त जाति का, किन्तु दत्रिमक राज्य को केवल कुछ व्यक्तियों का।

(३) द्वौमुषायणक राज्य का प्रजा से सदा अर्थवैषम्य रहता है किन्तु दत्रिमक राज्य का प्रजा से बहुत कुछ अर्थैक्य हो जाता है;

(४) द्वौमुषायणक राज्य में प्रजा नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है, किन्तु दत्रिमक राज्य में वह शासक जाति में विलीन हो जाती है;

(५) द्वौमुषायणक राज्य में शासित जाति को अर्थातिसार हो जाता है किन्तु दत्रिमक राज्य में ऐसा नहीं होता है;

(६) द्वौमुषायणक राज्य में शासित जाति की स्वराज्य प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती है, किन्तु दत्रिमक राज्य में ऐसी सम्भावना होती है, जैसाकि पहले दिखलाया जा चुका है।

दत्रिमक राज्य में महिषधुक् की अपेक्षा गोधुक् श्रेष्ठ होता है क्योंकि इस राज्य में राज्य और प्रजा के बीच प्रेम, शान्ति और विश्रम्भ महिषधुक् की अपेक्षा अधिक होता है।

अतः परराज्य में विशसितृक सबसे निकृष्ट और गोधुक सबसे श्रेष्ठ होता है।

हमारे आचार्यों के अनुसार सबसे श्रेष्ठ परराज्य की अपेक्षा सबसे निकृष्ठ स्वराज्य अभीष्ट समझा जाता है क्योंकि:—

(१) पराराज्य में शासक जाति और शासित जाति में चितिविपर्यय होता है चितिविपर्यय से उनमें विराट् विपर्यय भी हो जाता है; किन्तु शासक जाति के चिति और विराट् स्वभावतः प्रबल होते हैं और शासितजाति के चिति और विराट् स्वभावतः क्षीण हुए होते हैं, अतः इन प्रबल चिति और विराट् से शासित जाति के चिति और विराट् आक्रान्त होकर त्वरित गति से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। चिति और विराट् के नष्ट-भ्रष्ट होने से जाति की वही दशा होती है जो चैतन्य और प्राण के नष्ट होने से व्यक्ति की होती है। किन्तु स्वराज्य के निकृष्ट रूप में भी राज्य और प्रजा के बीच चिति और विराट् का विपर्यय नहीं होता।

(२) पराराज्य के सब से उत्तम रूप में भी शासित जाति के विराट् के पुनरुदय के अनेक प्रतिकूल कारण उपस्थित हो जाते हैं, अतः शासित जाति का पुनरुदय दिन-प्रतिदिन कठिन होता जाता है किन्तु स्वराज्य के सब से निकृष्टरूप में भी विराट् के पुनरुदय की सम्भावना बनी रहती है, अतः उसके पुनरुदय की भी आशा रहती है।

(३) स्वजातीय कुराज्य का अर्थ-विपर्यय होता है अपनी जाति के महत्वाभिलाषी जनों से। किन्तु परजातीय सुराज्य में शासक जाति का अर्थ-विपर्यय होता है शासित जाति के गुणवान् मनुष्यों से।

(४) पराराज्य में परभाषा और पर-साहित्य के महत्व और प्रचार के कारण शासित जाति की भाषा और साहित्य दब जाते हैं, किन्तु भाषा और साहित्य के उदयावपात से जाति के उदयावपात का एक प्रकार का समवाय सम्बन्ध होता है, अतः पराराज्य में शासित जाति के उदय का मुख्य कारण दब जाता है, किन्तु स्वराज्य में चाहे वह किसी रूप में हो ऐसा नहीं होता है।

(५) पराराज्य का शासित जाति से अर्थवैषम्य स्वाभाविक होता है, वह बिना दोनों में से एक का नाश हुए जा नहीं सकता है, किन्तु स्वजातीय कुराज्य का अर्थवैषम्य होता है कृत्रिम और कृत्रिम उपायों से वह चला भी जाता है।

(६) पराराज्य में शासित जाति में प्रतिभा और दैशिक धर्म का उदय नहीं होने पाता है और जो कदाचित् हुआ भी, तो बहुत दिनों तक उनका स्थिर रहना कठिन हो जाता है। शासित जाति के आशारूप पुरुषरत्न पराराज्य की कोपाग्नि में भस्म कर दिए जाते हैं और उनके भस्म से उस जाति के कूलंकष पुरुषाधमों के लिए खाद बनाई जाती है, किन्तु स्वराज्य में चाहे कैसा ही भ्रष्ट हो, जाति में प्रतिभा और दैशिकधर्म के संस्कार बने रहते हैं और उनके थोड़े भी उदय होने से देश की काया पलट जाती है, गई हुई श्री का पुनरावाहन हो जाता है।

यह स्पष्ट है कि स्वराज्य में प्रत्येक उत्तरराज्य की अपेक्षा पूर्वराज्य श्रेष्ठ होता है। अतः ब्राह्मराज्य सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, साम्यवादियों का अर्थात् वर्तमान सोश्यलिष्टों का अथवा बोल्शविकों का आदर्श भी यही राज्य है; किन्तु प्रश्न यह है कि इस काल में ब्राह्मराज्य क्या साध्य हो सकता है? किसी बात की साध्यता अथवा असाध्यता उसके देशकालनिमित्तों पर निर्भर होती है। यह प्रत्यक्ष है कि इन दिनों सर्वत्र देशकाल, निमित्त आसुरी सम्पद्मय बने हुए हैं, चाहे संसाररूपी रङ्ग में प्रविष्ट हुए यूरोप की कर्मसङ्ग की धमकती हुई ज्वाला ली जाय अथवा उस रङ्ग से निष्क्रान्त हुए एशिया की तन्द्रा का भस्मचय लिया जाय, सर्वथा यही जान पड़ता है कि संसार में दिन-प्रतिदिन दैवीसम्पद् का ह्रास हो रहा है; आसुरीसम्पद् की वृद्धि यहाँ तक हो चुकी है कि इन दिनों राजा-प्रजा में घास-लकड़ी के लिए, पिता-पुत्र में दाय भाग के लिए, जायापति में अन्नवस्त्र के लिए मुकदमेबाजी होने लगी है; एक ओर तो देशकाल-निमित्त ऐसे आसुरी सम्पद्मय और दूसरी ओर ब्राह्मराज्य का मूलतत्त्व समष्टिगत दैवीसम्पद्, अतः इन दिनों ब्राह्मराज्य साध्य नहीं हो सकता, यह राज्य केवल सतयुग में होता था जब कि धर्म के चारों चरण वर्तमान थे, इन दिनों जब कि धर्म के तीन चरण बिलकुल कट चुके हैं और चौथा चरण भी बहुत कुछ कट चुका है तो साम्यवादियों की कल्पना कहाँ तक कार्य में परिणत हो सकेगी इसमें सन्देह है; कल्पना उनकी निस्सन्देह उत्तम है।

अपरञ्च सारे समाज को दैवीसम्पद्मय बनाने की अपेक्षा कुछ व्यक्तियों को वैसा बनाना बहुत सुकर और सुसाध्य होता है; यदि कुछ व्यक्तियों को दैवीसम्पद्मय बना कर शासन उनके हाथ में दिया जाय और उनकी नीति का प्रचार किया जाय तो फिर लोगों को ब्राह्मराज्य की आवश्यकता नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त असात्विक समय में प्रतिनिधानपद्धति से जो शासन होता है उसमें आसुरी और राक्षसी प्रकृति के मनुष्यों के आगे आने और दैवीप्रकृति के मनुष्यों के पीछे पड़ने की सम्भावना अधिक होती है।

अन्यच्च, यदि राज्य एक व्यक्ति के हाथ में हो और भ्रष्ट होने से प्रजा से उसका अर्थ वैषम्य हो जाय तो थोड़ा प्रयास करने से राज्य सुधर सकता है; यदि राज्य बहुतों के हाथ में हो और भ्रष्ट होने से उनका प्रजा से अर्थ वैषम्य हो जाय तो बहुत यत्न करने से भी राज्य का सुधारना कठिन हो जाता है। इन्हीं बातों का बिचार करके हमारे दैशिकाचार्यों ने राज्यों के रूपों में परिवर्तन करने की अपेक्षा शासकों की दैवीसम्पद्मय परम्परा को उत्पन्न करना अभीष्ट समझा। जब कभी राजा वेणु के समान कोई कुशासक उत्पन्न हो जाता था तो वे उसका वध तो कर देते थे किन्तु शासन को अपने हाथ में नहीं लेते थे, पृथु के समान शासक को उत्पन्न करके राज्य

उसको सौंप देते थे, भगवान् जामदग्न्य ने चाहे इक्कीस बार उपद्रवी राजाओं का वध किया किन्तु राज्य का रूप कभी नहीं बदला। कहने का तात्पर्य्य यह है कि इन दिनों ब्राह्मराज्य की अपेक्षा दैव और मानव राज्य अधिक सुकर और सुसाध्य हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि छोटे देशों के लिए मानव राज्य और बड़े देशों के लिए दैवराज्य सर्वोत्तम होता है। जर्मन आचार्य निज्शे के मतानुसार भी मौनार्की (दैव अथवा मानव राज्य) सर्वोत्तम समझा जाता है।

स्वराज्य और परराज्य से भिन्न एक तीसरे प्रकार का भी राज्य होता है जो प्रधान और अधीन राज्य के संयोग से बना होता है, ऐसा राज्य द्वन्द्व राज्य कहा जाता है। द्वन्द्व राज्य तीन प्रकार का होता है:—उत्तम, मध्यम और अधम।

जिस द्वन्द्व राज्य में प्रधान और अधीन राज्यों में सख्यभाव होता है, प्रधान राज्य अधीन राज्य से नियत समय पर केवल कुछ उपायन लिया करता है, इसके अतिरिक्त अधीन राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र होता है, उसको उत्तम द्वन्द्व राज्य कहते हैं। इस राज्य में प्रधान राज्य को साम्राज्य और अधीन राज्य को सामन्त कहते हैं। साम्राज्यपद-प्राप्ति के लिए राजसूय द्वारा अपने में भगवान् विष्णु के सदृश गुण दिखलाने पड़ते थे।

जिस द्वन्द्व राज्य में प्रधान और अधीन राज्यों में सेव्यसेवक भाव होता है, प्रधान राज्य अधीन राज्य के कामों में हस्तक्षेप करता है और उसको अपने इच्छानुसार चलाया करता है उसको मध्यम द्वन्द्व राज्य कहते हैं। इस राज्य के प्रधान राज्य को अधिराज्य, अधीन राज्य को अनुराज्य कहते हैं। अधिराज्यपद प्राप्ति के लिए राजसभा द्वारा अपना उत्कर्ष दिखाना पड़ता था।

जिस द्वन्द्व राज्य में प्रधान और अधीन राज्यों में भोक्तृ-भोग्य भाव होता है, प्रधान राज्य के हाथ में ही सब अधिकार होते हैं, अधीन राज्य को नाम मात्र के कुछ अधिकार दिये रहते हैं उसको अधम द्वन्द्व राज्य कहते हैं। इस राज्य में प्रधान राज्य को प्रराज्य और अधीन राज्य को उपराज्य कहते हैं। प्रराज्य प्राप्ति के लिए राज्याभिषेक द्वारा अपनी शक्ति दिखानी पड़ती थी।

द्वंद्व राज्य के भी मुख्य हेतु दैवीसम्पद् और विराट् ही हैं। जब प्रधान राज्य में दैवीसम्पद् का और अधीन राज्य में विराट् का शेषांश अधिक होता है तो द्वन्द्व राज्य उत्तम रूप में होता है। जब प्रधान राज्य में दैवीसम्पद् की और अधीन राज्य में विराट् के शेषांश की न्यूनता होती है तो द्वन्द्वराज्य मध्यम रूप में होता है। जब प्रधान राज्य में आसुरी सम्पद् का आधिक्य और अधीन राज्य में विराट् के अवशेष का सर्वनाश हुआ रहता है तब द्वंद्वराज्य अधम रूप में होता है।

द्वन्द्वराज्य बहुधा दो स्वराज्यों के संयोग से, अथवा एक परराज्य और एक स्वराज्य के संयोग से, अथवा दो परराज्यों के संयोग से बनते हैं, जिनमें एक प्रधान और दूसरा अधीन राज्य होता है, किन्तु कभी-कभी प्रधान राज्य अनेक भी हो जाया करते हैं। जिस द्वन्द्व राज्य में प्रधान राज्य अनेक होते हैं उसको सन्निपात राज्य कहते हैं, सन्निपात राज्य चिरस्थायी नहीं होता।

पाश्चात्य शासन पद्धतियां

हमारे दैशिकशास्त्र के अनुसार राज्यों का वर्णन हो चुका है। तुलना के लिए कुछ पाश्चात्य के अनुसार भी राज्यों का वर्णन होना अच्छा था, किन्तु अनेक कारणों से, यह हो नहीं सकता है इतना कहा जा सकता है कि पाश्चात्य दैशिक-शास्त्र का मूलाधार हैं अरिष्टोटल का पौलिटिक्स। इसके अनुसार राज्य छह प्रकार के होते हैं :—

(१) मोनार्की, (२) अरिष्टोक्रेसी, (३) स्टेट, (४) टिरैनी, (५) ओलिगार्की और (६) डिमोक्रसी।

जिस राज्य में सार्वजनिक हित के लिए एक व्यक्ति शासन करता है वह मौनार्की कहा जाता है।

जिस राज्य में अनेक किन्तु अल्पसंख्यक सुयोग्य सज्जन शासन करते हैं वह **अरिष्टोक्रसी** कहा जाता है।

जिस राज्य में सार्वजनिक हित के लिए प्रायः समस्त प्रजा शासन करती है वह **स्टेट** कहा जाता है।

जिस राज्य में शासक का हित मुख्य समझा जाता है वह **टिरैनी** कहा जाता है।

जिस राज्य में धनवानों का हित मुख्य समझा जाता है वह **ओलिगार्की** कहा जाता है।

जिस राज्य में निर्धनों का हित मुख्य समझा जाता है वह **डिमोक्रसी** कहा जाता है।

इन राज्यों में उत्तर तीन राज्य पूर्व तीन राज्यों के भ्रष्ट रूप होते हैं। इन छह प्रकार के राज्य में जो भेद हैं उनका मुख्य कारण है अधिकार-भेद। जब अधिकार प्रजा के प्रतिनिधि रूप वंशपरम्परागत एक मनुष्य के हाथ में होता है तब राज्य मौनार्की रूप में होता है। जब अधिकार प्रजा के प्रतिनिधि रूप वंशपरम्परागत अल्पसंख्यक अनेक मनुष्यों के हाथ में होता है तो राज्य अरिष्टाक्रसी रूप में होता है। जब अधिकार स्वयं प्रजा के हाथ में होता है तो राज्य स्टेट रूप में होता है। जब अधिकार वंशपरम्परागत एक स्वेच्छाचारी मनुष्य के हाथ में होता है तो राज्य

टिर्रेनी रूप में होता है। जब अधिकार धनवानों के प्रतिनिधियों के हाथ में होता है तो राज्य **आलिगार्की** कहा जाता है। जब अधिकार गरीबों के प्रतिनिधियों के हाथ में होता है तो राज्य **डिमोक्रसी** रूप में होता है।

उक्त छह राज्यों के अतिरिक्त प्राचीन यूनान में एक और राज्य होता था जो **यजम्नेट** कहा जाता था, यजम्नेट राज्य में एक व्यक्ति किसी विशेष काम और नियत समय के लिए पूर्ण अधिकार देकर शासन करने के लिए चुन लिया जाता था और जब वह विशेष काम हो चुकता था और वह नियत समय बीत जाता था तब उस व्यक्ति के शासन का अन्त हो जाता था।

स्टेट राज्य में राष्ट्र जब बड़ा होता है तब प्रतिनिधान पद्धति को काम में लाए बिना राज्य ठीक हो नहीं सकता है। सब मनुष्यों के हाथ में शासन हो नहीं सकता है, अतः प्रतिनिधियों के हाथ में शासन देना पड़ता है। राष्ट्र बड़ा होने से जब शासन प्रतिनिधियों के हाथ में होता है तब राज्य रिपब्लिक कहा जाता है।

अरिष्टोक्रसी, औलिगार्की, डिमोक्रसी और रिपब्लिक में भेद केवल इतना होता है कि अरिष्टोक्रसी में प्रतिनिधि जन्म भर के लिए होते हैं, औलिगार्की में प्रतिनिधि नियत समय के लिए होते हैं, अपरंच वे धनवानों के ही प्रतिनिधि होते है। डिमोक्रसी में भी वे नियत समय के लिए होते हैं किन्तु वे प्रतिनिधि निर्धनों के ही होते हैं, रिपब्लिक में वे नियत समय के लिए होते और प्रतिनिधि वे सबके होते हैं।

अब उक्त सब राज्यों का लोप हो गया है, पाश्चात्य दैशिक शास्त्र के अनुसार अब संसार में केवल चार प्रकार के स्वराज्य और तीन प्रकार के परराज्य रह गये हैं। स्वराज्य जो इन दिनों पाए जाते हैं वे ये हैं :—राजतन्त्र, परिमित राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, संयुक्त राज्य।

जिस राज्य में सब अधिकार वंशपरम्परागत एक व्यक्ति अर्थात् राजा के हाथ में होते हैं वह राजतन्त्र कहा जाता है।

जिस राज्य में कुछ अधिकार प्रजा के हाथ में और कुछ अधिकार प्रजा-प्रतिनिधि मण्डली के हाथ में होते हैं और जब कोई महत्त्व का विषय उपस्थित होता है तब राजा और प्रजा-प्रतिनिधि मण्डली एक दूसरे की सम्मति लिया करते हैं तब राज्य परिमित राजतन्त्र कहा जाता है।

जिस राज्य में सब अधिकार प्रजाप्रतिनिधिमण्डल के हाथ में होते हैं वह प्रजातन्त्र राज्य कहा जाता है।

जिस राज्य में कुछ अधिकार अपने अपने हित के लिए मिले हुए राज्यों के अपने अपने हाथ में होते हैं और कुछ विशेष अधिकार सबके हित के लिए एक बड़े राज्य के हाथ में होते हैं वह संयुक्त राज्य कहा जाता है।

ये सब राज्य अरिष्टोटल के राज्यों की लौट फेर से ही बने हुए हैं। यथा राजतन्त्र राज्य कहीं मोनार्की रूप में होता है और कहीं टिरैनी रूप में; परिमित राजतन्त्र में राजा मौनार्क अथवा टाइरैण्ट का अंश होता है, और प्रतिनिधि-मण्डली कहीं अरिष्टोक्रसी का अंश, कहीं औलिगार्की का अंश और कहीं डिमाक्रसी का अंश होती है। अरिष्टोक्रसी अथवा औलिगार्की का अंश सर्दार-मण्डली में होता है, स्टेट अथवा डिमोक्रसी का अंश प्रजाप्रतिनिधि-मण्डली में होता है, प्रजातन्त्र राज्य में कुछ अंश डिमोक्रसी का और कुछ औलिगार्की का होता है।

आजकल यूरोप में एक और राज्य की चर्चा हो रही है जो बोल्शेविक राज्य के नाम से कहा जा रहा है। यह राज्य प्रायः रिपब्लिक राज्य के समान ही होता है। रिपब्लिक में और इसमें भेद केवल इतना ही है कि रिपब्लिक में राज्याधिकारियों के चुनाव में सम्मतियाँ केवल अर्थशास्त्रियों की ली जाती हैं और राज्याधिकारियों का गौरव और वेतन भी विशेष होता है; किन्तु बोल्शेविक राज्य में राज्याधिकारियों के चुनाव में सम्मतियाँ सब लोगों की ली जाती हैं, और गौरव और वेतन में राज्याधिकारी और साधारण किसान अथवा मजदूर में कुछ भेद नहीं समझा जाता है। बोल्शेविक राज्य रूस और हङ्गरी में स्थापित किया जा रहा है, लेनिन और वेलाकुन नामक व्यक्ति इसके प्रारम्भिक नेता हुए हैं। बोल्शेविकों के मतानुसार वर्तमान रिपब्लिक राज्य मृदुकोटि की औलिगार्की समझे जाते हैं।

इन दिनों पाश्चात्य दैशिक शास्त्रानुसार परराज्य तीन प्रकार के होते हैं:—
(१) कलोनियक, (२) प्रोटेक्टरेट और (३) डोमिनेण्ट।

जब किसी परराष्ट्र में शासित जाति नष्टप्राय हो जाती है, शासक जाति के कुछ लोग उस राष्ट्र में बस जाते हैं और उन वहाँ बसे हुए शासक जाति के लोगों के हाथ में कुछ राज्याधिकार होते हैं और कुछ विशेष राज्याधिकार शासक जाति के अपने देशस्थ राज्य के हाथ में होते हैं तब राज्य कलोनियल कहा जाता है। यथा कनाडा का वर्तमान राज्य।

जब परराष्ट्र में कुछ राज्याधिकार शासित जाति के राज्य के हाथ में होते हैं और कुछ विशेष राज्याधिकार शासक जाति के राज्य के हाथ में होते हैं तब प्रोटक्टरेट कहा जाता है। यथा मोरक्को में फ्रान्स का राज्य।

जब परराष्ट्र में सम्पूर्ण अधिकार शासक जाति के हाथ में होते हैं तब राज्य डोमिनेण्ट कहा जाता है। यथा, भारतमें इङ्गलिस्तान का राज्य।

इस जर्मन युद्ध से एक नवीन प्रकार के मेण्डेट नामक परराज्य का नाम सुनाई दे रहा है। मेण्डेट एक प्रकार का पञ्चायती राज्य होता है जिसमें अनेक राज्य मिल-

कर किसी परराष्ट्र का शासन करते हैं किन्तु शासन का विशेष प्रबन्ध उन मिले हुए राज्यों में से एक ही के हाथ में होता है।

इन दिनों के परराज्यों में शासन प्रतिनिधि द्वारा हुआ करता है, प्रतिनिधि का कर्तव्य होता है अपनी टीका-टिप्पणीसहित उस अधीन परराष्ट्र की बाह्याभ्यन्तरिक अवस्था की सूचना अपने होम गवर्नमेण्ट को देना, होम गवर्नमेण्ट इसी सूचना पर परराष्ट्र शासन-विषयक नीति का सूत्रपात करती है, जिस सूत्र को वह प्रतिनिधि विस्तृत करके कार्य में परिणत करता है। कानून बनाने वाली सभा द्वारा उस सूत्र का विस्तार किया जाता है, न्यायालयों द्वारा उसका प्रचार किया जाता है और सेनाद्वारा उसका प्रभाव अखण्ड रखा जाता है। कानून, अदालत और फौज इन दिनों के परराज्यों के आधार होते हैं।

इन दिनों हवा कुछ ऐसी चली हुई है कि संसार में सब देश अपने-अपने राज्यों से असन्तुष्ट हैं। डोमिनेण्ट राज्य में शासित जाति के लोग शासक जाति के लोगों से मिलकर एक नवीन प्रजातन्त्र राज्य चाहने लगे हैं। प्रोटक्टरेट राज्य में शासित जाति के लोग शासक जाति के हस्तक्षेप को अलग करके अपना स्वाधीन प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं। कलोनियल राज्य अपने मूलराज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करके स्वाधीन होना चाह रहे हैं। राजतन्त्र राज्यों का पतन सावन-भादों के हिमचयों के समान धड़ाधड़ हो रहा है। परिमित राजतन्त्र राज्यों में राजाओं के अधिकारों का अस्ताचलचूड़ावलम्बी भगवान् मरीचिमाली की हिमाद्रिशिखर-गत अन्तिम लालिमा के समान सरासर सङ्कोच होकर प्रजातन्त्र राज्य के अंकुर दिखाई देने लगे हैं। प्रजातन्त्र राज्य में अध्यक्ष अथवा राज्याधिकारियों का क्षणिक ऐश्वर्य लोगों को अखरने लगा है। इतना ही नहीं, वरन् सर्वत्र साहूकार और मजदूर आपस में आषाढ़ के ऐरावत मेघों के समान टकराने लगे हैं, सर्वत्र बोलशेविज्म अर्थात् साम्यवाद के संस्कार दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

साम्यभाव निस्सन्देह बहुत अच्छी बात है, किन्तु केवल तभी कि जब सर्वत्र बराबर सुख-शान्ति, सर्वत्र परस्पर प्रेम और सहानुभूति हो; न कि तब जब सर्वत्र बराबर दुःख-अशान्ति, सर्वत्र परस्पर द्वेष और असूया हों। पहले प्रकार का साम्य ब्राह्मसाम्य और दूसरे प्रकार का साम्य पाशव साम्य कहा जाता है। हमारे आचार्यों के मतानुसार जब तक समाज में अर्थ-परायणता और आसुरी सम्पद् रहती हैं और जब तक उसमें दैवीसम्पद् समष्टिगत नहीं होती तब तक ब्राह्म साम्य असम्भव होता है। अतः उन्होंने राज्यरूप की अपेक्षा राज्यतत्त्व को महत्त्व दिया, किन्तु पाश्चात्यों ने राज्यतत्त्व की अपेक्षा राज्यरूप को महत्त्व दिया है। हमारे और पाश्चात्यों के दैशिकशास्त्रों में यह बड़ा भेद है।

इति दैशिकशास्त्रे विराडध्याये राज्यविभागोनाम
प्रथमाह्निकः।

द्वितीय आह्निक

वर्णाश्रम विभाग

पहले आह्निक में यह दर्शाया गया कि प्रत्येक राज्य समाज के विराट् की अवस्था का रूपान्तर मात्र होता है, अर्थात् समाज में जैसी विराट् की अवस्था होती है वैसा उसमें राज्य होता है। विराट् की उत्तमावस्था में उत्तम राज्य, मध्यमावस्था में मध्यम राज्य और अधमावस्था में अधम राज्य होता है। अतः इस आह्निक में मीमांसा इस बात की है कि विराट् की उत्तमावस्था बनाए रखने के लिए समाज-रचना कैसी होनी चाहिए।

हमारे आचार्यों के मतानुसार उक्त बात के लिए समाज में धर्म समष्टिगत होना चाहिए। किन्तु धर्म है क्या ?

दैशिकशास्त्रानुसार मनुष्य के परस्पर प्रत्यर्थी सहज गुणों की साम्यावस्था की धारणा अर्थात् मनुष्य में स्वभाव से अथवा सन्निकर्षों के कारण जो अनेक प्रतिद्वन्द्वी गुण हो जाते हैं उनका साम्य बनाए रखना धर्म कहा जाता है। धर्म की परिभाषा को समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि—

(१) भगवती प्रकृति ने मनुष्यों को एक ओर तो सामाजिक जीव बनाया है जिससे उनमें साम्य की अतीव आवश्यकता होती है, और दूसरी ओर उनको अहंकार की मात्रा इतनी अधिक दे दी है कि वे अपने अत्यल्प लाभ के लिए एक दूसरे की महाहानि करने को सन्नद्ध रहते हैं।

(२) एक ओर मनुष्यों की आधिजीविक प्रवृत्ति मनुष्यसमाज को बहुत बढ़ने देना नहीं चाहती है और दूसरी ओर उनकी आधिचित्तिक प्रवृत्ति सहानुभूति रूप से उसकी वृद्धि करना चाहती है।

(३) एक ओर विवेक मनुष्य को महत्त्व के सोपान में रखना चाहता है और दूसरी ओर तृष्णा उसको नीचता के खड्ड में ढकेल रही है।

(४) एक ओर बुद्धि मनुष्य को आन्तरिक सुख की ओर खींच रही है और दूसरी ओर इन्द्रियाँ उसको बाह्य सुख की ओर ले जा रही हैं।

(५) एक ओर चितिशक्ति मनुष्य को देवत्व की ओर ले जा रही है और दूसरी ओर विषय-वासना उसको पशुत्व की ओर खींच रही है।

(६) एक ओर मनुष्य त्रिगुणातीत पुरुष की ओर जाना चाहता है और दूसरी ओर त्रिगुणात्मक प्रकृति उसको अपनी ओर खींचती है।

(७) दीर्घकालीन प्रतिद्वन्द्वी सन्निकर्षों के कारण मनुष्यस्वभाव में ऐसे और भी अनेक वैषम्य उत्पन्न हो जाते हैं।

मनुष्य के उक्त प्रत्यर्थी गुणों में एक के न्यून और दूसरे के अधिक होने से उसकी अवस्था अप्राकृतिक हो जाती है। मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था बनाए रखने के लिए उक्त प्रत्यर्थी गुणों की साम्यावस्था की धारणा की अत्यन्त आवश्यकता होती है। दैशिकशास्त्रानुसार यही धारणा धर्म कही जाती है।

उक्त प्रत्यर्थी गुणों का वैषम्य जब समष्टिगत होता है तब समाज के लोगों में अर्थ-विपर्य्यय हो जाता है, अथवा वह निस्सहाय होकर परभोग्य हो जाता है, अथवा उसमें ऐसा रागद्वेष भर जाता है कि जिसके कारण उसमें सुख, शान्ति और सन्तोष दुर्लभ हो जाते हैं। अतः धर्म को समष्टिगत करना अर्थात् समाज में उक्त प्रत्यर्थी गुणों की साम्यावस्था बनाए रखना दैशिकशास्त्र की परा निष्पत्ति समझी जाती है।

दैशिकशास्त्र की इस परा निष्पत्ति के लिए समाज में श्रेष्ठ बुद्धि का, उत्कट पौरुष का, पर्याप्त अर्थ का, यथेष्ट अवकाश का संयोग होना चाहिए। समाज में इन चार बातों में से एक के भी कम होने अथवा उनके साधारण कोटि के होने से उक्त प्रत्यर्थी गुणों की साम्यावस्था की धारणा नहीं हो सकती। श्रेष्ठ बुद्धि का, उत्कट पौरुष का, पर्याप्त अर्थ का, यथेष्ट अवकाश का संयोग करने के लिए समाज में पर्याप्त संख्यक चार प्रकार के प्रवीण मनुष्य होने चाहिए। एक वे जो समाज में श्रेष्ठ बुद्धि को बनाए रखें, दूसरे वे जो समाज में उत्कट पौरुष का योगक्षेम किया करें, तीसरे वे जो समाज में अर्थ का पर्याप्त उपार्जन और वितरण किया करें और चौथे वे जो समाज की बड़ी-बड़ी बातों के विचारने और करने के लिए यथेष्ट अवकाश दिया करें। किन्तु ऐसे प्रवीण मनुष्य बिना अप्रतिकूल दायसंस्कार के, बिना आजन्म अनुकूल सन्निकर्षों में अनुकूल शिक्षा पाए और बिना अनुकूल आधार और प्रेरणा के उत्पन्न नहीं हो सकते। किसी समाज में ऐसे प्रवीणों की पर्याप्त संख्या होना और भी कठिन होता है। इसी कठिनता के कारण आचार्य प्लेटो और उनके सुयोग्य शिष्य को अपने दैशिक सिद्धान्त असाध्य जान पड़े; किन्तु हमारे आचार्यों ने इस कठिनता को वर्णाश्रम धर्म से सुलझा कर उक्त परा निष्पत्ति को अत्यन्त सरल और सुकर कर दिया था। इस धर्म के अनुसार गुणकर्मविभागानुसार हमारे समाज के चार विभाग किए गए, एक-एक विभाग को एक-एक काम दिया गया; किसी को बुद्धि-सम्बन्धी, किसी को पौरुष-सम्बन्धी, किसी अर्थ-सम्बन्धी और किसी को अवकाश-सम्बन्धी। प्रत्येक विभाग को अपने काम में प्रवीण बनाने के लिए आधिजननिक और आध्यापनिक शास्त्र काम में लाए गए। ये चार विभाग चार वर्ण के नाम से कहे गये।

विद्याद्वारा समाज में श्रेष्ठ बुद्धि का योगक्षेम और समाज की स्वाभाविक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ण ब्राह्मण वर्ण कहा गया।

बल-वीर्य द्वारा समाज में पौरुष रखने वाला और समाज की शासनिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ण क्षत्रिय वर्ण कहा गया।

अर्थ द्वारा समाज में श्रीसमृद्धि को बनाए रखने वाला और समाज की आर्थिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ण वैश्य वर्ण कहा गया।

शारीरिक श्रम और सेवा द्वारा समाज को यथेष्ट अवकाश देनेवाला और समाज की आवकाशिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ण शूद्र वर्ण कहा गया।

जिन गुणकर्मों के अनुसार म्लेच्छ आदि जातियों से आर्य जाति अलग समझी गई, जिनके अनुसार आर्य जाति में वर्ण-विभाग किया गया वे स्वान्त्र्य-प्रेम और स्वातन्त्र्य-दान हैं। अर्थात् अनार्यों की अपेक्षा आर्यों में अधिक और वास्तविक स्वातन्त्र्य-प्रेम और स्वातन्त्र्य-दान होता है; और शूद्रों की अपेक्षा वैश्यो में, वैश्यों की अपेक्षा क्षत्रियों में, क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों में अधिक और वास्तविक स्वतन्त्रता-प्रेम और स्वतन्त्रता दान होता है।

विषय-भोगों के लिए स्वतन्त्रता को प्राप्त करना म्लेच्छगुण और दूसरों की स्वतन्त्रता का हरण करना म्लेच्छ कर्म कहा जाता है।

स्वतन्त्रता के लिए विषय-भोगों को त्यागना आर्यगुण और दूसरों की परतन्त्रता का उच्छेद करना आर्य कर्म कहा जाता है।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रता के प्रेमी होते थे, जो पीढ़ियों से मानवी स्वतन्त्रता का भोग करते चले आते थे, जो प्रकृति के बन्धनों से भी मुक्त होने के उपाय में लगे रहते थे, जो निष्काम सबको स्वतन्त्र बनाने का उद्योग करते थे, वे ब्राह्मण कहे जाते थे।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रता के प्रेमी होते थे, जिन्हें मानवी स्वतन्त्रता का अनुभव रहता था, जिनकी प्रवृत्ति पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर हुई रहती थी, जो स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों को हथेली में लिए रहते थे, जो निष्काम सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा किया करते थे वे क्षत्रिय कहे जाते थे।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रता के प्रेमी होते थे, जिन्हें मानवी स्वतन्त्रता का कुछ-कुछ अनुभव रहता था, जो पूर्ण स्वतन्त्रता को अच्छा समझते थे, जो स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अर्थ-त्याग किया करते थे, जो निष्काम सबकी आर्थिक स्वतन्त्रता की रक्षा किया करते थे वे वैश्य कहे जाते थे।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रता के प्रेमी होते थे, जिन्हें मानवी स्वतन्त्रता का कम अनुभव रहता था, जिनकी समझ में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं आती थी, जो स्वतन्त्रता के लिए कुछ त्याग नहीं करते थे, जो फलेच्छा से सबकी आवकाशिक स्वतन्त्रता को बनाए रखते थे वे शूद्र कहे जाते थे।

जब तक प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन न करे तब तक वर्ण-विभाग का होना न होना बराबर होता है, वर्णधर्म का पालन करने के लिए त्याग और सामाजिक विभूति के संयम की आवश्यकता होती है।

विना त्याग के कोई अपना वर्णधर्म-पालन नहीं कर सकता; यह भली भाँति समझ में आ सकता है कि जिस वर्ण के हाथ में अपनी जाति के बुद्धि-विवेक का योगक्षेम हो उसके बुद्धिविवेक स्वयं अति निर्मल होने चाहिए, किन्तु बिना विषय-त्याग के किसी की बुद्धि निर्मल हो नहीं सकती; अतः ब्राह्मणों के लिए विषय-त्याग आवश्यक समझा गया। जिस वर्ण के हाथ में अपनी जाति की रक्षा हो उसको बिना किसी ऐहिक आशा के अपने प्राणों को सदा संशय में रखे रहना पड़ता है। जिस वर्ण के हाथ में अपनी जाति का पालन-पोषण हो उसको माता के समान निरपेक्ष और निरभिमान होना पड़ता है। जिस वर्ण के हाथ में जाति की सेवा हो उसको धरित्री के समान निरीह और सहिष्णु होना पढ़ता है। चारों वर्णों को समाज के लिए बराबर त्याग करना पड़ता है; किसी एक वर्ण के त्याग से मुख मोड़ने पर समाज में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। त्याग ही दैशिक धर्म का मुख्य आधार है। इसी त्याग के प्रताप से हमारे पूर्वजों ने ऐसी सुन्दर समाज-रचना की थी कि जिसके लिए यवनाचार्य प्लैटो और अरिष्टोटल लार टपकाते रह गए।

किन्तु त्याग कहने में जितना सरल है करने में उतना ही कठिन है। किसी समाज में दस-बीस व्यक्ति त्यागी हो सकते हैं किन्तु समस्त समाज का त्यागी होना कुछ साधारण बात नहीं है। ऐसा समष्टिगत त्याग बिना किसी आधार के सम्भव नहीं हो सकता अर्थात् त्याग के जातिगत होने के लिए कोई ऐसा निमित्त अवश्यमेव होना चाहिए कि जिससे त्याग की ओर लोगों की प्रवृत्ति स्वतः हो जाय। बिना आधार के त्याग हो नहीं सकता है; उदाहरणार्थ भारत में इन दिनों अनेक ऐसे योगी देखने में आते हैं जो अपने दोनों हाथों को सदा ऊपर उठा कर सुखा देते हैं। यदि उन्ही योगियों से अपने हाथ के एक नख को काटकर फेंक देने को कहा जाय तो वे लड़ने को तैयार हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि जो अपने दोनों हाथों को त्याग सकता है वह क्यों कर एक नख को नहीं त्याग सकता। उत्तर इसका यह है कि पूर्व पक्ष में आमुष्मिक सुख की आशा का आधार रहता है जिससे दोनों हाथों का त्याग हो सकता है, किन्तु उत्तर पक्ष में किसी प्रकार का आधार न होने से एक नख का भी त्याग नहीं हो सकता। इसी प्रकार दैशिक विषय में भी प्रत्येक वर्ण के त्याग के लिए कुछ आधार अवश्यमेव होना चाहिए, किन्तु यह आधार वास्विलासिक नहीं होना चाहिए, यह होना चाहिए आधिजीविक और आधिचित्तिक। हमारे आचार्यों के अनुसार यह आधार तीन प्रकार का होता है:—(१) नैमित्तिक, (२) नैष्कृतिक और (३) सांस्कारिक।

नैमित्तिक आधारः—आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सब जीव दिन-रात आनन्द की खोज में लगे रहते हैं। समस्त जीव अधिक सुख के लिए अल्प सुख को त्याग देते हैं। जहाँ

अधिक सुख और अल्प सुख में वैषम्य होता है सब अल्प सुख को त्याग देने के लिए उतावले हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ध्यानयोग द्वारा प्रत्येक वर्ण को यह निश्चय करा दिया जाता था कि विषय-सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख अति श्रेष्ठ है। इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर त्याग सुकर हो जाता था। इस प्रकार के निश्चय से उत्पन्न हुआ त्याग का आधार नैमित्तिक आधार कहा जाता है। यह बात प्रत्यक्ष है कि मनुष्य को ध्यान योग का जितना-जितना रसास्वादन होता जाता है उतनी त्याग में उसकी निष्ठा होती जाती है। अतः प्राचीन समय में प्रत्येक मनुष्य को ध्यानयोग का अभ्यास कराया जाता था और प्रतिदिन कम से कम दो बार यह अभ्यास करना पड़ता था, कालक्रम से बिगड़ते-बिगड़ते उस ध्यानयोग ने वर्तमान सन्ध्योपासन का रूप धारण किया है, जिसका थोड़ा बहुत स्वाङ्ग अब भी हमारे देश में सर्वत्र होता ही रहता है; किन्तु इस स्वाङ्ग का भी दिन-दिन ह्रास होता चला जा रहा है।

नैष्कृतिक आधार—जब कोई किसी के लिए किसी प्रकार का त्याग करता है तब वह उसके बदले में कुछ पाने की आशा करता है, बिना बदला पाने की आशा के ऐहिक दृष्टि के त्याग में किसी की बहुत दिनों तक स्थिति नहीं हो सकती। अतः जब किसी से किसी प्रकार का त्याग करवाया जाता है तो उसको कुछ निष्कृति अवश्यमेव मिलनी चाहिए। इस प्रकार की निष्कृति से उत्पन्न हुआ त्याग का आधार नैष्कृतिक आधार कहा जाता है। आधिचित्तिक शास्त्रानुसार भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्ति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार की निष्कृति दी जानी चाहिए। ब्राह्मणों को गौरव की, क्षत्रिय को ऐश्वर्य की, वैश्य को श्री की, शूद्र को नैश्चित्य की। इस नैष्कृतिक आधार के संस्कार हमारे समाज में अब तक वर्तमान हैं; अब तक ब्राह्मणों का ऐसा गौरव है कि वे भूदेव कहे जाते हैं, अब भी हमारे बड़े-बड़े राजा-महाराजा उनके चरणों में सिर नवाते हैं, बड़े-बड़े सेठ-साहूकार उनके चरणों की धूलि लिया करते हैं, किसी आर्य सन्तान को यथार्थ ब्राह्मण का अपमान करने का साहस नहीं हो सकता। जिसने स्वतन्त्रता को अपना इष्ट देवता समझ लिया हो, जिसने जाति के हितार्थ अपने ऐहिक सुखों को त्याग दिया हो, उसके लिए ऐसी गौरव के अनुरूप निष्कृति है। प्राचीन संस्कारों के रह जाने से हमारे अधिकांश नृपासन में अब भी क्षत्रिय विराजमान हैं; हमारे अनेक राज्यों में जहाँ प्राचीन प्रथा चली आती है, ऐश्वर्य के अधिकारी अब तक क्षत्रिय समझे जाते हैं। जिसने अपनी जाति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाई हो ऐश्वर्य के अतिरिक्त और किस पदार्थ में उसको निष्कृति दी जा सकती है? भारत के समस्त हिन्दू राज्यों में, अनेक मुसलमान रियासतों में, कहीं-कहीं अंग्रेजी राज्य में भी धनाढ्य शिरोमणि अब तक वैश्य ही हैं। श्री के प्रमोद कानन में विहार करने का उन्हीं का अधिकार समझा जाता है। अपनी

जाति का पालन-पोषण करने वालों के लिए यही स्वाभाविक निष्कृति है। हमारे धर्म-शास्त्रानुसार स्वामी का मुख्य धर्म है सेवक को सर्वथा निश्चिन्त रखना। प्राचीन ढङ्ग के हिन्दू घराने में सेवक अब भी ऐसे ही निश्चिन्त रखे जाते हैं। जिसने जाति के हितार्थ सेवा धर्म स्वीकार किया हो उसके लिए नैश्चिन्त्य अनुरूप निष्कृति है जिसके लिए मनुष्य मात्र उत्सुक रहा करते हैं।

सांस्कारिक आधारः—विना पूर्वाभ्यास के त्याग का निर्वाह होना अत्यन्त कठिन होना है, परीक्षा के लिए यथा तथा किए हुए त्याग से अनिष्ट होना है न कि श्रेय। अतः त्याग-रूप वृक्ष को स्थिर और फलीभूत करने के लिए यथासमय विधिपूर्वक अभ्यासद्वारा चित्त में त्याग के संस्कारों को गढ़ देना पड़ता है। इस प्रकार का त्याग का आधार सांस्कारिक आधार कहा जाता है। यह आधार दिया जाता था ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व। प्रत्येक मनुष्य को त्याग का ऐसा अभ्यास करा दिया जाता था कि त्याग उसमें आत्मसात् हो जाता था। उपनयन के दिन इस विधि की छाया अब तक देखी जाती है।

उक्त तीन प्रकार के आधारों का संयोग होने से त्याग में पूर्ण निष्ठा हो जाती थी, जिससे वर्ण-धर्म का पालन करने में कुछ कठिनाई नहीं रहती थी।

मान, ऐश्वर्य, विलास और नैश्चिन्त्य सामाजिक विभूतियाँ कही जाती हैं, ऐहिक दृष्टि से मनुष्य के लिए इनसे और कोई वस्तु अभीष्ट नहीं होती है, इनके लिए वह जन्मभर उद्योग करता रहता है और इनके लिए वह सब कुछ करने को सन्नद्ध रहता हैं। कोई मान को श्रेष्ठ समझते हैं, कोई ऐश्वर्य को, कोई विलास को, कोई नैश्चिन्त्य को; किन्तु किसी एक विभूति की अपेक्षा अनेकों को सभी श्रेष्ठ समझते हैं; अतः जिस कर्म के करने से अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, सभी उसको करने लगते हैं और कम विभूतियाँ देने वाले कर्म को सभी छोड़ देते हैं, अतः वर्ण धर्म का पालन कराने के लिए सामाजिक विभूतियों के संयम की आवश्यकता होती है। सामाजिक विभूति-संयम कहते हैं इन विभूतियों का ऐसा विभाग और प्रयोग किया जाना कि जिससे प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन करता जाय और कोई वर्ण अपने धर्म को त्याग कर दूसरे वर्ण के धर्म में हस्तक्षेप करने न पावे। इसकी रीति यह थीः—

(१) एक वर्ण को केवल एक ही विभूति दी जाती थी; ब्राह्मणों को केवल मान, क्षत्रिय को केवल ऐश्वर्य, वैश्य को केवल विलास और शूद्र को केवल नैश्चिन्त्य दिया जाता था। अपरंच जैसा मान ब्राह्मण का होता था, वैसा और किसी का नहीं होता था, जैसा ऐश्वर्य क्षत्रिय को मिलता था वैसा और किसी को नही मिलता था, जैसे भोग-विलास वैश्य के घर होते थे वैसे और कहीं देखने में नहीं आते थे, जैसा निश्चिन्त शूद्र होता था वैसा और कोई नही होता था।

(२) प्रत्येक वर्ण के लिए एक विभूति नियत होती थी अर्थात् विद्या से अपनी जाति का उपकार करने वाले को मान, बल से अपने जाति की रक्षा करने वाले को ऐश्वर्य, अर्थ से अपनी जाति का भरण-पोषण करने वाले को श्री, परिश्रम से अपनी जाति का उपकार करने वाले के लिए नैश्चिन्त्य नियत होता था। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बल अथवा धन अथवा परिश्रम से अपनी जाति का उपकार करने वाले का मान नहीं होता था, विद्या अथवा अर्थ अथवा परिश्रम से अपनी जाति की रक्षा करने वाले को ऐश्वर्य नही मिलता था; किन्तु तात्पर्य यह है कि जितना मान विद्या से जात्युपकार करने वाले का होता था उतना और किसी का नहीं होता था। जितना ऐश्वर्य बल से जाति की रक्षा करने वाले को मिलता था उतना और किसी को नहीं मिलता था। जितनी श्री अर्थ से जात्युपकार करने वाले को दी जाती थी उतनी और किसी को नहीं दी जाती थी। जितना नैश्चिन्त्य सेवा से जात्युपकार करने वाले को मिलता था उतना और किसी को नहीं मिलता था।

(३) ये विभूतियाँ जात्युपकार के अनुरूप होती थीं अर्थात् अपने वर्णधर्म-पालन द्वारा जो जितना जात्युपकार करता था उसको उतनी विभूति मिलती थी, विना जात्युपकार किए कोई इन विभूतियों का अधिकारी नहीं समझा जाता था।

(४) ये विभूतियाँ पुरस्कार रूप से मिलती थीं अर्थात् विना अपना वर्णधर्म पालन किए किसी को ये विभूतियाँ प्राप्त नहीं होती थीं। केवल ब्राह्मण होने से न किसी का मान होता था, केवल क्षत्रिय होने से न किसी को ऐश्वर्य प्राप्त होता था, केवल वैश्य होने से न किसी को लक्ष्मी प्राप्त होती थी, और केवल शूद्र होने से न कोई निश्चिन्त होने पाता था।

(५) जब तक किसी मनुष्य में दैवीसम्पद् परिपूर्ण रूप से आत्मसात् नहीं हो जाती थी तब तक उसमें मान,ऐश्वर्य, श्री और नैश्चिन्त्य का संगम होने नहीं दिया जाता था; क्योंकि इनकी यौगपदिक प्राप्ति से मनुष्य उन्मत्त होकर आपे से बाहर हो जाता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, अपरंच इनके सङ्गम को देखकर सब मनुष्य अपने-अपने वर्ण धर्म को छोड़कर उस काम को ओर दौड़ने लगते हैं कि जिसमें इनका संगम रहता है; इसी कारण इन दिनों सब वर्ण के लोग अपने-अपने वर्णधर्म को त्याग कर सर्कारी नौकरो की ओर खिचे चले जा रहे हैं और नीच से नीच काम करने करने में भी सङ्कोच नहीं कर रहे हैं।

(६) अपने वर्णधर्म के अतिरिक्त कोई मनुष्य दूसरे वर्ण के कर्म को नहीं करने पाता था; क्योंकि आधिजीविक सिद्धान्तानुसार वंशपरम्परागत और दीर्घ सन्निकर्ष-जन्य संस्कारों के अनुकूल कर्म करने से शान्ति, सरलता और कौशल प्राप्त होता है,

और तद्विपरीत कर्म करने से अशान्ति, वैकल्य और वैकृति रहती है; अतएव कहा गया है कि—

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥"

इस प्रकार नैमित्तिक, नैष्कृतिक, सांस्कारिक आधारों द्वारा त्याग के सुकर किए जाने से और सामाजिक विभूतिसंयमद्वारा सब मनुष्य अपने-अपने वर्णधर्म में प्रवृत्त किए जा सकते हैं; किन्तु बिना स्वधर्म पालन की शक्ति और पटुता के और बिना उस शक्ति और पटुता के सदुपयोग के समाज को कुछ लाभ नहीं होता है वरन् उलटी हानि होती है। जब किसी वर्ण में स्वधर्म पालन की योग्यता नहीं होती है तब समाज की वही दशा होती है जो इस समय भारत की हो रही है, और जब विराट् क्षय होने से किसी वर्ण में स्वधर्म का दुरुपयोग होने लगता है तब समाज में अनर्थ हो जाता है, ब्रह्मकर्म के दुरुपयोग से समाज निरे मूर्खों अथवा पठितमूर्खों से भर जाता है, क्षत्रकर्म के दुरुपयोग से समाज में मारकाट, लूट-खसोट हुआ करती है, वैश्यकर्म के दुरुपयोग से एक ओर विविध प्रकार के दुर्व्यसन और दुर्विलासों का प्रचार होता है और दूसरी ओर लोग भूखे मरने लगते हैं, शूद्र कर्म के दुरुपयोग से समाज पंगु बन जाता है। अतः वर्ण-विभाग के उद्देश्य के सफल होने के लिए मनुष्यों में स्वधर्म-पालन की रुचि, शक्ति और पटुता होनी चाहिए और उनका दुरुपयोग नहीं होने देना चाहिए। किन्तु मनुष्य में ऐसी रुचि, ऐसी शक्ति, ऐसी पटुता, ऐसी उदारता तभी होती है कि जब उसकी बुद्धि, मन, शरीर की अनुकूल रचना होती है, ऐसी रचना किसी-किसी में जन्मान्तर संस्कारों के कारण स्वभावतः हो जाती है, नहीं तो सब में वह बनाए बनानी पड़ती है। अतः दैशिक शास्त्रानुसार मनुष्य की सामान्य आयु के चार भाग किये गए हैं। प्रथम भाग में आध्यापनिक शास्त्रानुसार उसकी बुद्धि, मन और शरीर की अनुकूल रचना की जाती थी, द्वितीय भाग में उसको उस रचनानुसार अपने देश और समाज की सेवा करनी पड़ती थी। द्वितीय और तृतीय भाग में यौवन के चले जाने पर आधिलवनिक शास्त्रानुसार जब मनुष्य की उक्त रचना में विकृति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते थे तो वह क्रमशः गृहस्थ से हटा दिया जाता था। ये चार भाग आश्रम के नाम से कहे जाते हैं; आश्रम चार होते हैं :—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

ब्रह्मचर्य आश्रम में दश से चौदह वर्ष के भीतर बालक गृह से अलग करके नगर से दूर स्थल में किसी आदर्श रूप गुरु के आश्रम में भेज दिया जाता था, जहाँ राजकुमारों से लेकर तपस्वी बालकों तक उनको एक साथ एक प्रकार के सात्विक भोजन और सात्विक सन्निकर्ष विषयक नियमों का पालन करते हुए रहना

पड़ता था, जहाँ शीतोष्ण, सुख-दुःख, मानापमान की अवहेलना करना, परस्त्रियों को मातृवत् और पर द्रव्य को लोष्ठवत् देखना उसमें आत्मसात् कर दिया जाता था, जहाँ उसको समस्त ऐहिक और आमुष्मिक ज्ञान-विज्ञान में पाण्डित्य प्राप्त कराया जाता था, जहाँ व्यावहारिक शिक्षाद्वारा उसको वर्णधर्म में नैपुण्य-करवाया जाता था, जहाँ ध्यान योग का उसको कुछ रसास्वादन और अभ्यास करबाया जाना था, जहाँ उसमें निष्काम बुद्धि उत्पन्न करा के उसको कर्मयोग की शिक्षा दी जाती थी। यौबन प्राप्त होने तक नित्य इसी प्रकार की शिक्षा मिलने से मनुष्य में एक ओर त्याग, विवेक, ओज की वृद्धि होती थी और दूसरी ओर उसमें शान्ति और स्वधर्म-कौशल भर आता था, जिससे मनुष्य के बुद्धि, मन और शरीर ऐसे हो जाते थे कि जैसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साधन के लिए होने चाहिए। जब तक बटु की बुद्धि, मन, शरीर की रचना पूर्णतया ऐसी नहीं हो जाती थी तब तक उसको इसी आश्रम में रहना पड़ता था। इस आश्रम में बटु का गुरु के प्रति यह भाव होता था कि "मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर"। अब दुर्भाग्यवशात् यह शिक्षा शैली स्वप्न सम्पत्तियाँ हो गई हैं, अब इनके बदले यहाँ यूनिवर्सिटी, कौलेज और स्कूलों की धूम मची हुई है जहाँ विदेशी भाषा की तूतियाँ, विदेशी सूक्तियों के ग्रेमोफोन, परिचर्या के यन्त्र, नौकरी के चातक बनाए जाने हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम के पूर्ण हो जाने पर बटु गुरु की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर जाति-धर्म, वर्णधर्म, कुलधर्म और आश्रमधर्म का पालन करने का सङ्कल्प करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में उसकी समस्त चेष्टाएँ बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय होती थीं। देश और जाति के प्रति उसका वही भाव होता था जो ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु के प्रति होता था। ओज, विवेक, त्याग को काम में लाने से रजोहनन करके वह व्यक्तिगत और जातिगत हित करता हुआ चतुर्वर्ग साधन करता था।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम रूपी रङ्गशाला में बीस-पच्चीस वर्ष अपना सुन्दर अभिनय करके और उस रङ्ग में अपने पुत्र रूपी दूसरे पात्र का प्रवेश हो जाने पर दर्शक-मण्डली को हर्षध्वनि के बीच निष्क्रमण करके वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था। इस आश्रम में भगवान् के चरणारविन्दों के अतिरिक्त और किसी बात का ध्यान नहीं रखा जाता था, इस आश्रम में भगवान् के प्रति वही भाव रखा जाता था जो गृहस्थाश्रम में देश के प्रति होता था। इस आश्रम की विशेषता यह होती थी कि एक ओर तो गृहस्थ से न्यस्तभार होकर ध्यानयोगजन्य परमानन्द का भोग किया जाता था और दूसरी ओर पुरानी और निस्सत्व व्यक्ति-रूप शाखाएँ कट कर समाज रूपी वृक्ष की कलम हो जाती थी।

वानप्रस्थाश्रम में निष्ठा हो जाने पर संन्यास धारण किया जाता था। शेष आयु समाधि अवस्था में अथवा जीवन मुक्तावस्था में बिताई जाती थी, शरीर से बहुत

कम प्रयोजन रहता था। इस आश्रम में मैं-मेरा, तू-तेरा कुछ नहीं रहता था, सारा जगत् ब्रह्ममय हो जाता था, किन्तु यह अवस्था विरले ही भाग्यशाली को प्राप्त होती थी। अतः इस आश्रम के विषय में स्मृतिकारों के भिन्न-भिन्न मत पाए जाते हैं, किसी के मतानुसार कलिकाल में केवल वे ब्राह्मण ही संन्यास धारण कर सकते हैं जो पहिले ऋताशी अथवा अमृताशी रहे हों, किन्हीं के अनुसार जिनको समाधि प्राप्त हो जाती है वे सदा संन्यास धारण कर सकते हैं। किन्तु दैशिकशास्त्र का इस विवाद से कुछ प्रयोजन नहीं है।

समाज में वर्णाश्रम धर्म का ठीक-ठींक पालन होने से अधोलिखित उद्देश्य सिद्ध होते हैं —

(१) व्यक्ति अथवा समाज के बाह्याभ्यन्तरिक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विषयों में साम्य हो जाता है।

(२) व्यष्टिगत और समष्टिगत हितों का संयोग हो जाता है; जिससे समाज के हितार्थ ब्राह्मण दारिद्रय को, क्षत्रिय प्राणसंशय को, वैश्य चिन्ता को, शूद्र सेवा को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं।

(३) समाज में सर्वत्र सन्तोष रहता है जिससे देशद्रोह का बीज उत्पन्न होने नहीं पाता।

(४) समाज में सर्वत्र प्रेम और ऐक्य रहता है जिससे सर्वत्र अर्थैक्य रहता है।

(५) मान के साथ दारिद्रय, ऐश्वर्य के साथ प्राणसंशय, श्री के साथ भार, नैश्चिन्त्य के साथ विनय का संयोग होने से ब्राह्मण अभिमानी नहीं होने पाते हैं, न क्षत्रिय उच्छृङ्खल होते हैं, न वैश्य दुर्व्यसनी होते हैं, न शूद्र असन्तोषी होने पाते हैं। फलतः समाज में सर्वत्र साम्य रहता है।

(६) समाज में कार्य-विभाग हो जाता है। किसी काम को सुकर और सुसम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अनेक विभाग किए जायँ, एक व्यक्ति के अनेक कामों में हाथ डालने से उसको ज्ञान तो थोड़ा बहुत सब कामों का हो जाता है, किन्तु कौशल एक में भी प्राप्त नहीं होता, अनेकों के एक ही काम में लगने से उन सब को एक काम में कौशल तो प्राप्त हो जाता है किन्तु और कामों का किसी को भी ज्ञान नहीं होता, इसके प्रतिपक्ष एक काम के अनेक भाग करके एक-एक व्यक्ति को सौंप देने से उसके सब भाग सुसाध्य और सुसम्पन्न हो जाते हैं।

(७) जातिरूपी वृक्ष की कलम हो जाती है, किसी आधिजीविक पदार्थ को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है कि समय-समय पर उसकी कलम की जाय अर्थात् उसका सहानुभूति-शून्य अथवा कुसंस्कारयुक्त अङ्ग निकाल कर अलग कर दिया जाय जिससे उसके और अङ्ग संसर्ग दोष से दूषित न होने पावें। वानप्रस्थ

आश्रम से लोग समाज से अलग कर दिये जाते हैं जो वार्धक्य के कारण विषण्ण और सहानुभूति-शून्य हो जाते हैं।

वर्णाश्रम धर्म की छाया प्लेटो के रिपब्लिक और अरिष्टोटल के पौलिटिक्स में भी पाई जाती है।

आचार्य प्लेटो के मतानुसार आदर्श रूप समाज ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ लोग गुण-कर्मानुसार अन्न-वस्त्र उत्पन्न किया करें, इसके अतिरिक्त उन लोगों का और कुछ काम न हो, कुछ लोग ऐसे हों कि जो क्रय-विक्रय द्वारा उस अन्न को समाज के लिए सदा सुलभ रखें, कुछ दृढ शरीर वाले लोग ऐसे हों कि जो वेतन लेकर समाज की सेवा-शुश्रूषा किया करें, कुछ ऐसे लोग समाज की रक्षा के लिए नियत हों कि जो निश्चिन्त, निपुण और बुद्धिमान हों, जिनको अपने काम का दीर्घाभ्यास हो, जो स्वजातियों के प्रति विनीत और पर-जातियों के प्रति भयङ्कर हों, जो धीर, ज्ञानी, तेजस्वी और स्फूर्तिमान हों। जहाँ मनुष्यों के चित्त में बाल्यावस्था से ही मृत्युभय और नीच बीभत्स संस्कार नहीं पड़ने दिये जायँ, जहाँ मनुष्यों का शरीर व्यायाम द्वारा स्वस्थ और सुडोल बनाया जाय और गान्धर्व विद्या द्वारा उनके चित्त में शालीनता और चित्तप्रसादन के संस्कार डाले जायँ। जहाँ शासक और उनके अधिकारी परस्परच्छन्दानुवर्ती हों।

जहाँ अधिकारी लोग ऐसे हों कि जो सुयोग्य, अप्रमत्त, बुद्धिमान और सावधान हों, जो देश-सेवा के रसिक हों, जो समाज की सुखसमृद्धि को अपनी सुखसमृद्धि समझते हों, जहाँ सम्पत्ति का न अत्यन्त अभाव हो, जहाँ नित्य सत्संस्कार और सत्शिक्षा का योगक्षेम होता हो, जहाँ लोगों को बाल्यावस्था से ही दैशिक धर्म की शिक्षा मिलती रहे, जहाँ छोटी-छोटी बातों के लिए कानून नहीं बनाये जाते हों और न बार-बार कानूनों का परिवर्तन होता हो।

जहाँ स्त्री, बालक, प्रजा, शासक, स्वतन्त्र, परतन्त्र, शिल्पी इत्यादि सब लोग अपने-अपने काम में लगे रहते हों, कोई एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप नहीं करता—एक प्रकार के लोगों का दूसरे प्रकार के लोगों के काम में हस्तक्षेप करने से अथवा एक मनुष्य का अनेक प्रकार के लोगों के काम में हाथ डालने से समाज में और अनर्थ हो जाता है।

जहाँ विवाह पद्धति शुद्ध संस्कारयुक्त हो, जहाँ उत्तम दम्पतियों की सन्तानें केवल यौवन में ही उत्पन्न हों, जहाँ एकान्त स्थान में शिक्षा केवल उत्तम संस्कारयुक्त बालकों को ही दी जाती हो, न कि दुष्ट कुसंस्कारयुक्त बालकों को, जहाँ भीरु अथवा स्वकर्म-विमुख क्षत्रिय लोग शूद्र कक्षा में रखे जाते हों।

जहाँ भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बसे हुए एक जाति के लोग अपने को एक दूसरे से भिन्न नहीं समझते हों, जहाँ उनमें परस्पर द्रोह न हो वरन् एक-दूसरे से प्रेम रखते हों, जहाँ सब लोग जातीय रीतियों को बरतते हों !

जहाँ शासक लोग विद्वान् और पण्डित हों, जहाँ अध्यात्म शास्त्र और दैशिक शास्त्र एक दूसरे के अङ्ग समझे जाते हों, जहाँ अधिकार ऐसे लोगों को दिए रहते हों जो मर्यादा और व्यवस्था से बाहर कभी न जाते हों, जहाँ अधिकार योग्य व्यक्तियों को ढूंढ़ कर आदरपूर्वक दिए जाते हों, न कि नौकरी के लिए अर्जी देने वालों को।

जहाँ समाज संचालन का काम पण्डितों के हाथ मे हो, न कि पण्डितमानियों के हाथ में, जहाँ राज्याधिकार ऐसे लोगों के हाथ में हो जो उनको तुच्छ समझते हों और जो ऐसी अवस्था का रसास्वादन कर चुके हों जो शासन करने की अपेक्षा बहुत रमणीय हो।

जहाँ बाल्यावस्था में गणित, ज्योतिष और आन्वीक्षिकी विद्या द्वारा मनुष्यों की बुद्धि में पैनापन लाया जाता हो, जहाँ गुरुशिष्यों में सख्य भाव रहता हो, जहाँ सबसे प्रथम स्वास्थ्य का योगक्षेम किया जाता हो, तदनु सरल विज्ञानों की शिक्षा दी जाती हो, तदनन्तर पुरुषार्थ के काम किए जाते हों और अन्त में शान्ति से कालक्षेप किया जाता हो।

जहाँ विद्या और गुणों की वृद्धि के साथ मान की भी वृद्धि होती हो, जहाँ गौरव सद्गुणों का होता हो, न कि सम्पत्ति का।

जहाँ एक मनुष्य अनेक काम नहीं करता हो, जहाँ कोई निरुद्यमी नहीं होने पाता हो, जहाँ कोई न अति धनानुरागी हो, न कोई अति विषयानुरागी हो, जहाँ सब लोग युक्ताहार-विहारशील हों, जहाँ आलसी और अपव्ययी लोग दूर से ही फटकार दिए जाते हों, जहाँ सब लोग आत्मनिष्ठ हों।

ये बातें आचार्य प्लेटो के रिपब्लिक से ली गई हैं, जिसके छठे अध्याय में कुछ ऐसा सङ्केत भी किया हुआ है कि किसी दूर देश में जहाँ यवनों का राज्य नहीं है ऐसा आदर्श रूप समाज अब तक वर्तमान हैं और जहाँ राजकुमार ज्ञान के रसिक हुआ करते हैं। यह बात विचारास्पद हैं कि आचार्य प्लेटो के बहुत पहिले कपिलवस्तु के युवराज भगवान् बुद्धदेव के उपदेशक यूनान में पहुँच चुके थे. अतः अनुमान होता है कि आचार्य प्लेटो का वह दूर देश हमारा भारत ही था। चाहे कुछ भी हो, उनका रिपब्लिक हमारे दैशिक शास्त्र की छाया लेकर रचा गया है।

इस विषय में आचार्य अरिष्टोटलस् का भी मत प्रायः अपने गुरु का जैसा ही है, उनके मतानुसार वह समाज सर्वोत्तम होता है जिसमें सब लोग एक ही जाति के

होते हैं, यदि अनेक जातियों के हों तो उनमें एकरसवाहिता आ गई हो, जिसका संचालन बिलकुल नीति और मर्यादा के अनुसार होता है, जहाँ मर्यादापूर्वक सब आवश्यक पदार्थ सदा सुलभ रहते हैं, जहाँ लोग धन का बहुत मान नहीं करते जहाँ लोग कृषि और पशु-पालन में चतुर होते हैं।

जहाँ समाज का श्रेय विद्या, सुनीति और सदाचार पर समझा जाता है न कि नये-नये कानून बनाए जाने पर, जहाँ दारिद्र्य निवारण के उपाय सदा काम में लाए जाते हैं, जहाँ मनुष्यों की बड़ी तृष्णा नहीं होती है और उचित आवश्यकतानुसार किसी को अन्न-वस्त्र का कष्ट भी नहीं रहता है, जहाँ विद्या और आत्मनिग्रह का प्रचार रहा करता है, जहाँ ऊँचे लोगों की तृष्णा और नीच लोगों की प्रतिपत्ति बढ़ने नहीं दी जाती है, जहाँ स्त्रीजनों में स्वेच्छाचार नहीं आने दिया जाता है, जहाँ लोग निर्लोभ और निराकांक्ष होते हैं, जहाँ लोग राज्य को बिगड़ने नहीं देते हैं, जहाँ समाज की रक्षा करने वाले लोग निश्चिन्त रखे जाते हैं, जहाँ पेट के लिए उनको कोई नीच और अननुरूप काम करने नहीं दिया जाता है।

जहाँ प्रत्येक व्यक्ति समाज के हित-साधन में लगा रहता है, जहाँ सब लोग साहसी और जातिधर्म-परायण होते हैं, जहाँ शासन सुयोग्य, सुशील, कुलीन, बुद्धिमान, मेधावी; आत्मनिग्रही, तेजस्वी, सुकृती और नय-विशारद लोगों के हाथ में दिया रहता है, जहाँ सर्वत्र उक्त प्रकार के गुणवान् शासक होते हैं, जहाँ सब मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार चला करते हैं।

वह समाज श्रेष्ठ होता है जो आत्मरक्षा और आवश्यक पदार्थों के लिए किसी दूसरे समाज पर निर्भर नहीं होता है, जहाँ प्रजा राज्य की दुष्प्रवृत्ति को रोकने की सामर्थ्य रखती है, जहाँ लोग मध्यस्थ वृत्ति और समानावस्था वाले होते हैं, जहाँ कोई न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा होता है, जहाँ राज्याधिकारी लोग लोभी और उद्धत नहीं होते हैं, जहाँ लोग खुशामदी नहीं होते हैं, जहाँ किसी बात की अननुरूप वृद्धि नहीं होती है, जहाँ लोग मुखबिर और चुगलखोर नहीं होते हैं, जहाँ लोग मित-व्ययी, परस्पर विश्वासी और श्रद्धावान् होते हैं जहाँ शासक सत्पाल, प्रेमी, नीतिपरायण, सुकृतानुरागी होते हैं, जहाँ दैशिक और जातीय शिक्षा बाल्यावस्था से ही दी जाती है।

जहाँ लोग तेजस्वी, आत्मनिग्रही, न्यायपरायण, बुद्धिमान्, उत्साही, स्वकर्मरत होते हैं; जहाँ गुण और आवश्यकतानुसार समाज और राष्ट्र का विभाग किया रहता है; जहाँ लोगों को निष्काम सत्कर्म करने में आनन्द होता है न कि समाज से अलग रहने में; जहाँ अन्न के लिए कृषकों की कमी, रक्षा के लिए योद्धाओं की कमी, धन के लिए महाजन की, यज्ञादि के लिए पुरोहितों की कमी, न्याय के लिए प्राड्विवाकों

की कमी नहीं रहती है; जहां लोगों को बड़े काम करने के लिए यथेष्ट समय मिलता है; जहाँ राज्याधिकारी लोग स्वभाव से, वंशपरम्परा से और शिक्षा से अपने-अपने काम के योग्य होते हैं।

जहां कानून पूर्वापर विचार करके सब बातों का ध्यान रख कर बनाए जाते हैं; जहाँ लोग ऐसे ढाँचे में ढाले जाते हैं कि जो सर्वत्र सुयोग्य निकलते हैं, चाहे वे किसी अवस्था में रखे जायँ; जहाँ उपयोगिता के साथ सौन्दर्य का और सौन्दर्य के साथ उपयोगिता का विचार किया जाता है, जहाँ सब लोग वशी, वीर, धैर्यशाली और युक्ताहारविहारशील होते हैं।

जहाँ सब लोग अपने को अपने समाज का अङ्ग समझते हैं और जहाँ बालकों की उत्तम शिक्षा का प्रबंध समाज के हाथ में होता है न कि राज्य के हाथ में।

अरिष्टॉटल के उक्त विचारों में भी हमारे वर्णाश्रम धर्म का प्रतिविम्ब दिखाई दे रहा है, किन्तु इतने स्पष्ट रूप से नहीं जितना कि प्लेटो के विचार में; कारण इसका यह है कि प्लेटो का लक्ष्य था सर्वश्रेष्ठ समाज का निरूपण करना, अतः उनके रिपब्लिक में वर्णाश्रम धर्म का प्रतिविम्ब साफ दिखाई देता है। अरिष्टॉटल का लक्ष्य था भिन्न-भिन्न प्रकार के राज्यों का वर्णन करना, केवल प्रसङ्गवशात् उस में श्रेष्ठ समाज का वर्णन आ गया है; अतः उनके दैशिक शास्त्र में वर्णाश्रम धर्म की छाया अधूरी जान पड़ती है।

पाश्चात्य देशों में आचार्य प्लेटो के रिपब्लिक और आचार्य अरिष्टॉटल के दैशिक शास्त्र के आधार पर समाज-रचना की कुछ चेष्टा हो रही है जो सोश्यलिज्म अथवा बोल्शेविज्म अर्थात् साम्यवाद के नाम से कही जा रही है। साम्यवादियों के मतानुसार उनकी वर्तमान सामाजिक अवस्था अनभीष्ट है, किन्तु अपने देश में अनभीष्ट समझे जाने वाले इस पाश्चात्य समाज के ढाँचे में अपने समाज को ढालना चाहने वाले हम लोगों के मतानुसार वर्णाश्रम धर्म अत्यन्त अनभीष्ट वस्तु है। वर्ण-प्रथा हमारी उन्नति के मार्ग में बाधा डाल रही है, बिना इसका नाश हुए हमारी उन्नत्ति नहीं हो सकती है, इस प्रथा का नाश होने ही से हमारी उन्नति होने लगेगी।

यद्यपि संसार में, संसार में क्या हमारे ही भारत में, बहुत लोग ऐसे भी हैं कि जिनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है तथापि वे हमसे बहुत गिरी अवस्था में हैं किन्तु इनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। अधोमुखी जातियों की वृद्धि बहुधा ऐसी ही हुआ करती है। वर्तमान यूरप से विद्यमान भारत की तुलना करके हम लोग वर्णाश्रम धर्म की महिमा को काल्पनिक और अतिशयोक्ति समझते हैं किन्तु हमको यह विचार नहीं रहता है कि विद्यमान सविराट् यूरप से वर्तमान निर्विराट् भारत की तुलना नहीं

हो सकती; ऐसी तुलना बहुधा भ्रान्तिजनक होती है। यह सब जानते हैं कि मरे हुए मृगराज की अपेक्षा जीता चीता बहुत ओजस्वी होता है, सूखे गुलाब की तुलना में हरा कुंज बहुत सुगन्धयुक्त होता है, किनारे पर बैठे हुए हंस की अपेक्षा सरोवर में तैरता हुआ बक अति शोभायमान होता है। अपरंच यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारा आदर्शरूप विद्यमान यूरप जीवनयात्रा की जटिलता और कामक्रोध-लोभमोह-मदमत्सर की वृद्धि से दिन-प्रतिदिन विपर्यस्त होता जा रहा है; जिसके कारण इन दिनों वहां राजा और प्रजा के बीच, सरदारों और रैयतों के बीच, साहूकार और मजदूरों के बीच, स्त्रियों और पुरुषों के बीच दलबन्दी हो रही है। जिस समाज में ऐसा अर्थविपर्यय हो और जिसमें लोग एक ओर तो काम-क्रोधादि से विपर्यस्त हों और दूसरी ओर उसमें जीवन-यात्रा की समस्या जटिल होती जा रही हो, विचारिए वह समाज कहां तक अभीष्ट और आदर्शरूप समझा जाना चाहिए; वास्तव में ऐसे समाजवाले स्वर्ग की अपेक्षा तद्विपरीत समाजवाला नरक बहुत अभीष्ट होना चाहिए। यूरोपीय समाज में मुलम्मा तभी तक चढ़ा हुआ है जब तक संसार के अन्य देश सोए हुए हैं, उनके जागते ही यूरपीय समाज अपना असली रङ्ग देने लगेंगे, उन्होंने बहुत कुछ रङ्ग तो इसी महायुद्ध में दे दिया है। भगवान् भास्कर की तिरछी मरीचियों से रंजित हिमालय के शिखर दूर से जैसे रमणीय दिखाई देते हैं वास्तव में वैसे होते नहीं हैं।

जो कुछ हो, यूरप की वर्तमान सामाजिक अवस्था अपने देश में अभीष्ट नहीं समझी जा रही है, उसका परिवर्तन करने के लिए ही वर्तमान सोश्यलिज्म का जन्म हुआ है। सोश्यलिज्म अभी बाल्यावस्था में ही है, अतः कहा नहीं जा सकता है कि सोश्यलिस्ट लोग अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए किन उपायों को काम में लाएँगें और इन उपायों से कहां तक कृतार्थ हो सकेंगे, उनके गुरु प्लेटो और अरिष्टॉटल के आदर्शरूप समाज की रचना ग्रीस में न हो सकी। किन्तु उनसे बहुत पहिले भारत में उससे भी श्रेष्ठ समाज की रचना हो चुकी थी; जो उनके समय तक बहुत कुछ भ्रष्ट हो चुकी थी, तथापि जो रचना यवनाचार्यों का आदर्श रूप समझी जाती थी, जो अब नष्टप्राय हो चुकी है, किन्तु पूर्व संस्कारों से उसकी प्राचीन महिमा का अनुमान हो सकता है।

क्या कारण था कि छोटे से ग्रीस में प्लेटो और अरिष्टॉटल के आदर्शरूप समाज की रचना न हो सकी, किन्तु विशाल भारत में उससे भी श्रेष्ठ समाज की रचना हो गई?

कारण इसका यह जान पड़ता है कि यवनाचार्यों के दैशिक शास्त्र का आधार था कानून। कानून की रचना द्वारा उन्होंने अपनी कल्पना को कार्य में परिणत करना

चाहा, अतः उनकी कल्पना कल्पनामात्र ही रही, वह कभी कार्य में परिणत न हो सकी; किन्तु हमारे दैशिक शास्त्र का आधार था आधिचित्तिक और आधिजीविक शास्त्र। इन शास्त्रों के अनुसार दैवीसम्पद् को समष्टिगत करके उन्होंने अपनी कल्पना को कार्य में परिणत करना चाहा; अतः उनकी कल्पना अनायास कार्य में परिणत हो गई।

यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे समस्त शास्त्रों का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि धर्म की संस्थापना कानून बनाने से, नीति की दोहाई देने से; धर्म की पुकार करने से, तर्क का सहारा लेने से नहीं होती है; यह होती है केवल तेज, त्याग, विवेक के संयोग से; इसी विधि से वार-वार देवताओं ने धर्म की संस्थापना की और भविष्य में भी ऐसा ही होगा।

इति दैशिकशास्त्रे विराडध्याये

वर्णाश्रमविभागो नाम

द्वितीयाह्निकः।

तृतीय आह्निक

अर्थायाम

जिस धर्म की परिभाषा पूर्वाह्निक में कही गई है धारणा उसकी होती है वर्णाश्रम प्रथा से, और हानि उसकी होती है अर्थ के अभाव से अथवा प्रभाव से अर्थात् धन के बिलकुल न होने से अथवा उसका अत्यन्त मान होने से धर्म निभ नहीं सकता है; अर्थ अभाव और प्रभाव दोनों रूपों से धर्म को नष्ट कर देता है। पूर्वपक्ष के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं; क्योंकि सब इस बात को जानते हैं कि जिस समाज में पेट भर खाने को अन्न नहीं, पहनने को वस्त्र नहीं, शत्रुओं से लड़ने के लिए सामान नहीं, वह धर्म को क्या जाने, धर्म पालन करना भूखे नङ्गों का काम नहीं है। उत्तरपक्ष के विषय में यह सिद्ध है कि मनुष्य सदा मान, ऐश्वर्य, विलास, नैश्चिन्त्य—इन चारो में से एक न एक के लिए उद्योग किया करता है, जब तक ये सामाजिक विभूतियाँ धर्म-पालन के प्रतिफल रूप में मिला करती हैं, तब तक सब लोग अपने-अपने धर्म में स्थिर रहते हैं, किन्तु जिस समाज में धन का अत्यन्त प्रभाव होता है ये सामाजिक विभूतियां धन के पीछे मारी-मारी फिरती हैं, अतः उस समाज में सब लोग अपने-अपने धर्म को छोड़ कर अर्थ-सञ्चय की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं।

धन के अभाव और प्रभाव दोनों से समाज अर्थमात्रिक हो जाता है, ऐसा होने से लोगों को अर्थभ्रम हो जाता है अर्थात् वे अर्थ के तत्त्व और अभिप्राय को भूल कर उनको अन्यथा समझने लगते हैं। अर्थभ्रम से मोह और कौटिल्य की वृद्धि, विवेक और पौरुष का क्षय हो जाता है, फलतः समाज में सर्वत्र :

"इरिया परुषाच्छर लोलुपता
भरि पूरि रहे समता बिगता।
सब लोग वियोग बिसोक हुए
बरनाश्रम धर्म अचार गए॥"

अतः धर्म की रक्षा के लिए अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनों को रोकना, धन को वश में रखना, लोगों को उसके वश में न होने देना, समाज में उसकी न अत्यन्त घृणा, न अत्यन्त गौरव होने देना अत्यन्त आवश्यक है, इस प्रकार अर्थ को मर्यादा में रखना अर्थायाम कहा जाता है।

जैसे प्राण के अनियन्त्रित रहने से प्राणी की मानसिक और शारीरिक अवस्था बिगड़ कर उसका जीवन दुःखमय हो जाता है, किन्तु प्राणायाम से उसकी शारीरिक और मानसिक अवस्था बहुत सुन्दर होकर जीवन आनन्दमय हो जाता है, वैसे ही अर्थ के अनियन्त्रित रहने से समाज की बाह्याभ्यन्तरिक अवस्था बिगड़ कर उसमें रहना दुःखमय हो जाता है, किन्तु अर्थायाम से समाज की बाह्याभ्यन्तरिक अवस्था सुधर कर उसमें रहना सुखमय होता है।

अर्थायाम के चार चरण होते हैं:—

(१) सामाजिक विभूति संयम, (२) विनिमय प्रथा की रक्षा, (३) अन्नप्राचुर्य, और (४) कृषि-गोरक्षा।

सामाजिक विभूति संयम—इसका वर्णन पूर्व आह्निक में हो चुका है, इस उपाय से अर्थ, मान, ऐश्वर्य, विलास, नैश्चिन्त्य का आधार होने नहीं पाता, लोग उसको कामधेनु समझ नहीं पाते हैं, उनको उन विभूतियों के लिए विशेष प्रकार से समाज की सेवा करनी पड़ती है; अतः अर्थ किसी को अपने धर्म से च्युत करके अपना दास नहीं बना सकता है।

विनिमय प्रथा की रक्षा—इसके अधोलिखित तीन सिद्धान्त सर्वविदित हैं:—

(१) भोक्ताओं की अपेक्षा उत्पादकों की संख्या अधिक होने से समाज में सदा अर्थ का प्राचुर्य रहा करता है; ऐसी आर्थिक अवस्था समाज के लिए श्रेयस्करी होती है। उत्पादकों की अपेक्षा भोक्ताओं की संख्या अधिक होने से समाज में सदा अर्थ की दुर्लभता रहा करती है, ऐसी आर्थिक अवस्था समाज के लिए अनर्थकरी होती है।

(२) द्रव्य का जितना गौरव होता है उतनी उसकी क्रयशक्ति बढ़ती है। द्रव्य की क्रयशक्ति बढ़ने से उसमें लोग बड़ी श्रद्धा और बड़ा भरोसा करने लगते हैं। ऐसा होने से सारी प्रजा द्रव्यसञ्चय की ओर झुक पड़ती है, जिसका अवश्यंभावी परिणाम यह होता है कि समाज में मुख्य अर्थ का उत्पादन कम और गौण अर्थ का उपार्जन अधिक होने लगता है। फलतः समाज में उत्पादकों की अपेक्षा भोक्ताओं की संख्या अधिक हो जाती है। अभी पहले सिद्धान्त में यह कहा गया है कि उत्पादकों की अपेक्षा भोक्ताओं की संख्या अधिक होने से समाज में आजीविका कष्टसाध्य हो जाती है, आजीविका के कष्टसाध्य होने से लोगों का मुख्य धर्म हो जाता है येनकेन प्रकारेण पेट भरना। अपरञ्च धन का गौरव होने से वंचना और प्रतारण की अनेक रीतियों का आविर्भाव होने लगता है, भाँति-भाँति से परस्व हरण में जो चतुर होते हैं वे सम्पन्न रहते हैं और जो उसमें चतुर नहीं होते वे विपन्न रहते हैं, विपन्नों को अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त और किसी बात का विचार नहीं रहता है। इस प्रकार सम्पन्न हुए लोगों को सदा लूट-खसोट की ही सूझी रहती है, जब पर्याप्त लूट-खसोट हो जाती है तब कालान्तर में बन्द पानी के समान सड़कर उनकी सञ्चित सम्पत्ति बाहर निकलने लगती है तो समाज में नीच संस्कार फैलने लगते हैं जिनसे समाज निस्तेज और धर्मभ्रष्ट जाता है।

(३) जब तक समाज में कुछ लोग दारिद्रयपीड़ित नहीं होते हैं तब तक उसमें द्रव्य से कुछ काम नहीं चल सकता है, समाज में जितनी दरिद्रियों की संख्या अधिक होती है उतना उसमें द्रव्य से अधिक काम चल सकता है, अतः जो समाज अथवा व्यक्ति अर्थोपार्जन की उपेक्षा करके द्रव्योपार्जन करने लगता है उसके चित्त में अन्य समाज अथवा अन्य व्यक्तियों को दरिद्री बनाए रखने का अशिव सङ्कल्प उत्पन्न हो जाता है। जब यह अशिव सङ्कल्प कार्य में परिणत होने लगता है तब समाज की जो अवस्था होती है उसका भली भांति अनुमान किया जा सकता है।

उक्त तीन सिद्धान्तों से, यह सिद्ध होता है कि द्रव्य के अत्यन्त गौरव और प्रचार से समाज में भोक्ताओं की अपेक्षा उत्पादकों की संख्या न्यून हो जाती है, द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है, दारिद्रयपीड़ित लोगों की संख्या अधिक हो जाती है, इन तीन बातों से लोग धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः द्रव्य के अत्यन्त गौरव और प्रचार को रोकना परमावश्यक समझा जाता है। द्रव्य का गौरव और प्रचार तभी रुक सकता है जब द्रव्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता कम कर दी जाय और द्रव्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता को कम करने का एकमात्र उपाय है विनिमय प्रथा।

विनिमय कहते हैं एक आवश्यक वस्तु के बदले दूसरी आवश्यक वस्तु को देना अथवा कोई आवश्यक काम करना। इस प्रथा के चलन से द्रव्य की आवश्यकता और

उपयोगिता तो कम हो जाती है किन्तु साथ ही इसके वाणिज्य में कठिनाई भी होने लगती है। अपरञ्च यह प्रथा बलात् चलाये चल नहीं सकती है, और बलात् चलाया हुआ कोई काम श्रेयस्कर नहीं होता है। अतः इस प्रथा को चलाने के नियम हैं:—

(१) सिक्कों का अनाधिक्य, (२) सिक्कों का मूल्य अपने धातु के मूल्य के बराबर होना, (३) नगरों की अपेक्षा ग्रामों में सिक्कों का प्रचार कम होना, (४) नगरों में विनिमय और क्रय-विक्रय दोनों प्रथाओं का प्रचार रहना, (५) अन्तर्जातीय वाणिज्य में केवल सिक्कों का चलन होना।

सिक्कों का अनाधिक्य—विनिमय प्रथा की अपेक्षा क्रयविक्रय प्रथा अधिक सरल और सुकर होती है, क्रयविक्रय को अनायास चलाने के लिए सिक्के बनाए जाते हैं, सिक्के यथासम्भव सुवाह्य, सुधार्य और सुरक्ष्य बनाये जाते हैं, सञ्चय किए जाने के लिए अन्नादि की अपेक्षा सिक्के बहुत अच्छे होते हैं; अतएव विनिमय प्रथा की अपेक्षा सिक्कों का चलन रुचिकर होता है। इसी कारण सिक्कों की बहुतायत से विनिमय प्रथा उठती जाती है। जब समाज में सिक्कों की कमी होती है तब मनुष्यों को लाचारी से विनिमय प्रथा काम में लानी पड़ती है। अतः विनिमय प्रथा को बनाए रखने के लिए समाज में सिक्कों की बहुतायत नहीं होनी चाहिए।

(२) सिक्कों का मूल्य अपने धातु के मूल्य के बराबर होना—सिक्कों की बहुतायत केवल सरकारी टकसाल से ही नहीं होती है; किन्तु लोगों के निजी टकसालों से भी हुआ करती है। जब तक सिक्कों के बनाने में लाभ नहीं है तब तक कोई निजी टकसाल नहीं रखता है जब तक सरकारी टकसाल से निकले हुए सिक्कों का मूल्य उनके धातु के मूल्य के बराबर होता है तब तक किसी को असली धातु के निजी सिक्के बनाने से कुछ लाभ नहीं हो सकता है, यदि कोई मिलावटी धातु के खोटे सिक्के निकाले तो बाजार में उनका चलन नहीं होता है, और उनके पकड़े जाने की बहुत सम्भावना रहती है। अतः सरकारी टकसालों से निकले हुए सिक्कों का मूल्य उनके धातु के मूल्य के बराबर होने से निजी सिक्कों का निकलना बन्द हो जाता है। पहले हमारे देश में सिक्कों का मूल्य उनके धातु के मूल्य से अधिक होने के कारण बाजार जाली सिक्कों से भरे हुए थे। निकल धातु के सिक्कों के टकसाल से बाहर आते ही जाली सिक्कों की बहुतायत होने लगी, इसके प्रतिपक्ष ज्योंही सोने का मूल्य सौवरिन से बढ़ने लगा त्योंही बाजार में सौवरिनों की कमी होने लगी। अतः सिक्कों की बहुतायत को रोकने और विनिमय प्रथा को चालू रखने के लिए सिक्कों का मूल्य धातु के मूल्य से अधिक नहीं होना चाहिए। अतएव प्राचीन भारत में सोने-चाँदी की बहुतायत होते हुए भी सिक्के बहुत कम होते थे।

इस दृष्टि से कागजी रुपयों का चलन और भी अधिक अनभीष्ट समझा जाता है, क्योंकि इस चलन से न केवल विनिमय प्रथा की हानि होती है, अपितु इससे समाज में अर्थ-सङ्कट होने की सम्भावना भी रहती है, क्योंकि कागजी रुपये निकालने वालों को कोई वस्तु किसी भाव में खरीदने में हानि नहीं होती है, और उस खरीदी हुई वस्तु को जिस भाव से वेचता है उसमें उसको लाभ रहता है, एक कागज के टुकड़े में वह सारे समाज की आँतें बाहर निकाल सकता है, अतः यदि कागजी रुपये निकालने वाला दूसरे देश से मुख्य अर्थ का व्यापार करता है तो समाज में अर्थसङ्कट उपस्थित हो जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कागजी रुपयों के चलने से समाज में अर्थसङ्कट तभी हो सकता है जब कि वे बतौर सिक्कों के चलते हैं, न कि बतौर हुण्डियों के।

(३) **नगरों की अपेक्षा ग्रामों में सिक्कों का प्रचार और भी कम होना**—कारण इसका यह है कि नगरों अथवा नागरिकों की अपेक्षा ग्रामों में अथवा ग्राम्यजनों द्वारा ही मुख्य अर्थ का उत्पादन हुआ करता है, ग्रामों में सिक्कों का जितना प्रचार होता है उतना वहां आलस्य और भोग-विलास का प्रचार होता है, फलतः वहाँ मुख्य अर्थ के उत्पादकों की संख्या कम होने लगती है; ग्रामों में उत्पादकों की संख्या जितनी कम होती है, नगर उतने ही अपने धर्म से च्युत होते हैं। नगरों के स्वधर्म च्युत होने से समाज का अवपात होने लगता है। अपरञ्च ग्रामों में सिक्कों का प्रचार होने से वहाँ अन्नादि का सरासर ह्रास होने लगता है, वे बिलकुल खोखले हो जाते हैं।

(४) **नगरों में क्रय-विक्रय और विनिमय दोनों का बराबर चलन होना**—नगरों में कुछ लोग ऐसे भी रहते हैं, जो न तो मुख्य अर्थ का उत्पादन करते हैं और न विनिमय प्रथा को ही काम में ला सकते हैं, किन्तु समाज के लिए वे अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक होते हैं, अपरञ्च नगरों में अनेक काम ऐसे होते हैं कि जो विनिमय प्रथा से नहीं किए जाते हैं और वहाँ अनेक वस्तुएँ भी ऐसी होती हैं कि जिनका लेनदेन विनिमय प्रथा से नहीं हो सकता है, किन्तु उन कामों का किया जाना और उन वस्तुओं का लेनदेन समाज के लिए बहुत आवश्यक होता है, अतः वैसे आवश्यक मनुष्यों के लिए, उन आवश्यक कामों और वस्तुओं के लिए नगरों में दोनों प्रथाओं का चलन होना आवश्यक समझा जाता है।

(५) **अन्तर्वाणिज्य में केवल सिक्कों का प्रचार होना**—अन्तर्वाणिज्य में विनिमय प्रथा को काम में लाने से अधोलिखित हानियाँ होती हैं:—

(क) विनिमय प्रथा द्वारा वाणिज्य करने वाले देश आर्थिक रूप से परस्पराधीन हो जाते हैं।

(ख) इस प्रकार के परस्पराधीन देशों में से एक देश में आर्थिक सङ्कट होने से दूसरे देशों में भी आर्थिक सङ्कट हो जाता है, जैसा कि इस महायुद्ध के कारण अनेक देशों में हुआ।

(ग) उक्त प्रकार के परस्पराधीन देशों में जो निर्बल होते हैं उनका आवश्यक और उपयोगी माल बाहर चला जाता है, और उसके बदले में उनको अनावश्यक और निरुपयोगी माल मिलता है; जैसा कि किसी समय भारत को गेहूँ और रुई के बदले जापान से जीनतान और कागज की कण्डीलें मिल रही थीं।

(घ) उक्त प्रकार के परस्पराधीन देश में जो प्रबल होते हैं वे उस अर्थ का उत्पादन छोड़ कर वैलासिक वस्तुओं का उत्पादन करने लगते हैं; उदाहरणार्थ फ्रान्स और इङ्गलिस्तान।

(ङ) वाणिज्य क्षेत्र में जो जाति अन्य जातियों की बराबरी नहीं कर सकती विनिमय प्रथा द्वारा वाणिज्य से उनके प्रतिक्षण अर्थ-सङ्कट में पड़ने की सम्भावना रहती है।

(च) इस प्रकार परस्पराधीन देशों में जो प्रबल होता है वह निर्बल को अपनी रैयत अथवा मजदूर बना लेता है और स्वयं भोग-विलासों में पड़ कर नाश को प्राप्त होता है।

(छ) जैसे समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो अपनी कुरूप और निरुपयोगी वस्तु के बदले में लोगों की सुन्दर और उपयोगी वस्तु को ठग ले जाया करते हैं और वे ठगे हुए लोग उस वस्तु को दूसरों के हाथ बेचते हैं और वे दूसरे उसको तीसरे के सिर मढ़ देते हैं, एवं क्रमात् समाज में उस कुरूप और निरुपयोगी वस्तु का चलन हो जाता है, और उसके बदले समाज की सुन्दर और उपयोगी वस्तु चली जाती है, जैसा समाज में व्यक्तियों द्वारा होता है संसार में वैसा जातियों द्वारा होता है। जब अन्तर्जातीय वाणिज्य में विनिमय होता है तब कतिपय देशों को उनकी सुन्दर आवश्यक और उपयोगी वस्तु के बदले भद्दी अनावश्यक और निरुपयोगी वस्तु मिलती है, यथा भारत को उसके ताँबे-पीतल के बदले ऐल्युमिनियम मिल रहा था।

अन्तर्वाणिज्य की उक्त खराबियाँ केवल तभी होती हैं, जब विनिमय होता है। सिक्कों के प्रचार से वे खराबियां नहीं होती हैं; अतः अन्तर्वाणिज्य में केवल सिक्कों का प्रचार होना चाहिए।

उक्त नियमों के अनुसार विनिमय प्रथा को चलाने से अधोलिखित आर्थिक और सामाजिक लाभ होते हैं:—

(१) मुख्य अर्थ का उत्पादन न करनेवालों का अथवा कोई उपयोगी काम न करनेवालों का समाज में निर्वाह होना कठिन हो जाता है; अतः समाज में उत्पादकों की संख्या भोक्ताओं की अपेक्षा सदा अधिक रहा करती है।

(२) व्यक्तियों के परस्पर उपकारी होने से समाज में सदा ऐक्य और प्रेम रहा करता है।

(३) समाज में आलस्य और विलासिता का प्रवेश नहीं होने पाता।

(४) झूठ और ठगी बहुत कम हो पाती है।

(५) समाज में सदा आर्थिक स्वतन्त्रता बनी रहती है।

(६) विद्या और शास्त्रों के योगक्षेम के लिए निमित्त अनुकूल रहा करते हैं।

(७) फलतः धर्मपालन में आर्थिक अन्तराल नहीं पड़ने पाते हैं।

(३) **अन्नप्राचुर्य**—जब समाज में अन्न का प्राचुर्य होता है तब लोगों को द्रव्य की बहुत आवश्यकता नहीं रहती है; अतः उसका बहुत गौरव नहीं होता है, अपरञ्च अन्नप्रशस्ति से लोगों का समस्त ध्यान आजीविका में बँधने नहीं पाता, उनको धैर्य रहता है, स्वधर्म की ओर देखने का उनको यथेष्ट अवकाश मिल जाता है। हमारे आचार्यों के मतानुसार अन्नप्राचुर्य के अधोलिखित उपाय हैं:—(१) कृषि, (२) गो-रक्षा, (३) वाणिज्य, (४) कृषीबलों के जुट और हड़ताल को न होने देना, (५) अपने देश को परान्नभोजी देशों के लिए अन्न की मण्डी न होने देना।

जिस देश में ये पाँचों बातें होती हैं उसपर माँ अन्नपूर्णा सदा प्रसन्न रहती है, एक की भी कमी होने से अन्न की बहुत कमी पड़ जाती है। अतः हमारे आचार्यों ने इस काम के लिए जाति का चतुर्थांश अलग रख दिया जो वैश्य वर्ण के नाम से कहा जाता है, वैश्यों के इस काम में सहोद्योगी होना राजा का परमधर्म समझा जाता था; राज्याभिषेक के समय राजा से इस उक्त धर्म पालन की शपथ करवा ली जाती थी, इसी धर्म के कारण राजा विशांपति के नाम से कहा जाता था। अतः अधोलिखित बातें विशांपति का धर्म समझी जाती थीं:—

(१) **कृषि को अदेवमात्रिका और प्रचुर रखना**—अर्थात् सिंचाई का ऐसा प्रबन्ध करना जिससे कृषि को वर्षाजल के भरोसे न रहना पड़े, और ऐसा प्रबन्ध करना कि जिससे लोगों के पास इतनी भूमि रहे कि उससे आधी भूमि को कुछ समय तक अकृष्ट रख कर भी देश के लिए पर्याप्त अन्न हो जाय। एक भूमि में प्रतिवर्ष एक ही फसल बोने से उसकी उत्पादन शक्ति कम हो जाती है; अतः भूमि की उत्पादन शक्ति को कम न होने देने के लिए कुछ समय के लिए उसको अकृष्ट रखना पड़ता है।

(२) **मातृदाय प्रथा को बनाए रखना**—अर्थात् अच्छी उपजाऊ भूमि को राजा से रङ्क तक समस्त गृहस्थ प्रजा में इस प्रकार विभक्त कर देना कि उस भूमि के अन्न से उनका निर्वाह हो सके। इस प्रकार जन्मभूमि रूपी माता से मिली हुई भूमि **मातृदायिका** कही जाती है; यह भूमि अदेय होती है अर्थात् इसका बय, बक्सीस, गिर्वी, नीलाम कुछ नहीं हो सकता है, इस भूमि में मनुष्य का स्वत्व तभी तक होता है जब तक वह गृहस्थाश्रम में रहता है, गृहस्थी के त्यागने के दिन से उसमें उसकी स्त्री का स्वत्व होता है, स्त्री के पश्चात् वह भूमि राज्य को लौटा दी जाती है ताकि वह औरों को दी जाय। अब इस प्रथा का नाम तक नहीं सुना जाता है।

(३) **गोप्राचुर्य को बनाए रखना**—यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक गृहस्थी के पास दो चार दुधैली गाएँ रहने से समाज में कभी अच्छे भोजन की कमी नहीं रह सकती है। जिस समाज में ऐसा होता है उसमें एक विशेष प्रकार का आनन्द, धैर्य और सामर्थ्य रहता है; अतः विशांपति का यह धर्म होता था कि सदा ऐसे अनुकूल निमित्त उपस्थित रखे जायँ कि जिनसे प्रत्येक घर में कम से कम दो-चार गाएँ सुखपूर्वक पाली जायँ।

(४) **गो की अगोष्टमात्रिका बनाना**—अर्थात् प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगर में इतना गोचर रखना कि जिसकी घास को चरने से वहाँ की गायों का पालन हो सके, उनको घर में घास देने की आवश्यकता न हो।

(५) **गोहत्या को न होने देना**—इस नियम से गोकुल की उत्तरोत्तर वृद्धि में बाधा नहीं पड़ने पाती है; अतः गायें इतनी सस्ती रहती हैं कि प्रत्येक मनुष्य उनको अनायास खरीद सकता है। इसी सुन्दर नीति के कारण हमारे देश में गायें इतनी सस्ती रहती थीं कि हमारे समाज में बात-बात में दो-चार गोदान हो जाया करते थे, अब भी यह प्रथा कहीं-कहीं प्रचलित है।

(६) **चर्म व्यापार का न होने देना**—बहुधा यह देखने में आता है कि चमड़े के व्यापार का गोवृन्द पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, ज्यों ज्यों चमड़े का व्यापार बढ़ता जाता है त्यों त्यों नित्य मारे जाने से गायों की संख्या कम होती जाती है; अतः इस व्यापार को रोकना विशांपति का धर्म समझा जाता था।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री हमारे अर्थशास्त्र की गो-रक्षा सम्बन्धी-नीति पर हँसते हैं और गोहत्या और चर्मव्यापार के पक्ष में यह युक्ति देते हैं कि गाय बैलों की इतनी उत्पत्ति होती है कि यदि वे सब रहने दिए जायं तो दस वर्ष में वे इतने बढ़ जाते हैं कि मनुष्यों की खेती के लिए स्थान नहीं रहता है, और बीस वर्ष में वे इतने अधिक हो जाते हैं कि उनसे मनुष्यों को दुःख होने लगता है, अतः गोहत्या से मनुष्यों का हित होता है, न कि अहित। कहना पड़ता है कि उक्त गणकों ने कदाचित् यह

विचार नहीं किया कि उत्पत्ति से एक ओर वृद्धि होती है तो प्राकृतिक मृत्यु द्वारा दूसरी ओर क्षय भी होता रहता है, गाय की आयु बहुत नहीं होती है; अपरञ्च अनुभव उक्त गणकों की युक्ति पर विश्वास नहीं होने देता है, क्योंकि लाखों, हजारों वर्षों तक हमारे देश में गो-हत्या और चर्म-व्यापार बन्द रहे, हमारी रियासतों में ये बातें अब तक बन्द हैं किन्तु कभी इस भयानक अवस्था का नाम तक न सुना गया। हिसाब फैलाकर यह भी देखा गया है कि मनुष्य को जितना लाभ एक गो के चमड़े से होता है उससे अधिक लाभ केवल उसके गोबर से होता है, दूध, दही, घी से जो लाभ होता उसका तो कहना ही क्या। समाज को गाय के दूध से जितना लाभ होता है उतना ही लाभ बैल के परिश्रम से भी होता है।

(७) **वाणिज्य रक्षा**—हमारे दैशिकाचार्यों के मतानुसार वाणिज्य का उद्देश्य है देश में विविध कला-कौशलों की वृद्धि करना, समाज की आर्थिक स्वतन्त्रता का योग-क्षेम करना; अतः इसके लिए यह आवश्यक है कि वाणिज्य अपरमात्रिक हो अर्थात् ऐसा हो कि जिसको क्रय-विक्रय के लिए दूसरे देशों के भरोसे रहना न पड़े; जो देश अपने माल के आय-व्यय के लिए दूसरे देशों के भरोसे रहते हैं आर्थिक रूप से वे स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते, प्रतिकूल नियमों के उपस्थित होने पर उनकी दशा बहुत बिगड़ जाती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि मानचेष्टर रुई के लिए मिस्र और गेहूँ के लिए भारत पर निर्भर है, यदि दशान्तर से कुछ वर्षों तक मिस्र में रुई की और भारत में गेहूँ की खेती बिगड़ जाय तो मानचेष्टर की जो दशा होगी उसका अनुमान हो सकता है। इसके प्रतिपक्ष में मानचेष्टर यदि मिस्र की रुई के बदले अपने देश के ऊन पर और भारत के गेहूँ के बदले अपने देश के जौ-जई पर निर्भर रहे तो मिस्र में रुई की और भारत में गेहूँ की फसल बिगड़ जाने पर मानचेष्टर का बाल भी बाँका नहीं हो सकता। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्तर्जातीय वाणिज्य नहीं होना चाहिए; अन्तर्जातीय वाणिज्य केवल ऐसा होना चाहिए कि जिससे अपने देश का अतिरिक्त और उद्वर्त माल बाहर निकल जाय, न कि ऐसा कि अपना देश आर्थिक रूप से दूसरे देशों के अधीन हो जाय। अपने देश से बाहर जानेवाला माल बहुत बढ़िया होना चाहिए ताकि अपने देश पर उन अन्य देशवालों की श्रद्धा और प्रेम हो जाय। उक्त उद्देश्य से जब वाणिज्य का दूसरा उद्देश्य होने लगे तो उसमें हस्तक्षेप करना आवश्यक होता है। वाणिज्य को उक्त उद्देश्यानुसार चलना वाणिज्य-रक्षा कहा जाता है।

(८) **कृषीवलों का जुट और उनकी हड़ताल न होने देना**—समाज में कृषीवलों का जुट और हड़ताल सबसे अधिक अनर्थकारी होती है, यदि किसी समाज में कृषीवल आपस में जुट करके अन्न के भाव को सदा चढ़ाए रखें अथवा हड़ताल करके

उसको बेचें हो नहीं तो समाज में महान् अनर्थ हो सकता है; यदि समाज उनके जुट और हड़ताल से दबा रहे तो समाज में सदा दुर्भिक्ष और विश्वास बना रहता है, और यदि समाज उनको दबाने का यत्न करता है तो देश में अशान्ति हो जाती है, नित्य विप्लव हुआ करते हैं, किसी के शरीर-सम्पत्ति की कुशल नहीं रहती है; उभयतः समाज विपर्यस्त रहता है, सब पेट की चिन्ता में व्याकुल रहते हैं, ऐसी अवस्था में धर्म की सुध किसी को नहीं रह सकती। अतः कृषीबलों के जुट और हड़ताल को न होने देना विशांपति का मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। किन्तु हमारे धर्मशास्त्रानुसार किसी से कोई वस्तु बलात् बिकवाना अथवा उससे बलात् कोई काम करवाना नीति लोकाचार के विरुद्ध समझा जाता है; अतः हमारे अर्थशास्त्र के अनुसार कृषीबलों के जुट और हड़ताल को न होने देने का सबसे श्रेष्ठ उपाय है, कुशूल पालन अर्थात् प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगर में अन्न की बड़ी-बड़ी कोठियों को रखना।

कुशूल अर्थात् अन्न की कोठियाँ दो प्रकार की होती हैं:—(१) राजकीय (सरकारी); (२) श्रेष्ठीय (साहूकारों की)।

दोनों प्रकार के कुशूलों का मुख्य आधार होता था अपनी भूमि में उत्पन्न हुआ अन्न, न कि खरीदा हुआ अन्न; अतः राजकुशूलों के पालन के लिए अन्न उत्पन्न करने वाली भूमि का कर अन्न के ही रूप में लिया जाता था और यह अन्न राजकुशूलों में सञ्चित किया जाता था, और शेष कर द्रव्य रूप में लिये जाते थे। अन्न रूप में लिया जानेवाला कर अच्छी और बुरी फसल के मध्यवर्ती परिमाण से लिया जाता था, इसी प्रकार श्रेष्ठीय कुशूलों में भी अन्न जमा होता था। कुशूलों का प्रयोजन होता था कृषीबलों के जुट और हड़ताल को न होने देना और अन्न को सस्ते भाव पर बेचना, न कि द्रव्य कमाना। जब कभी कृषीबल जुट करके अथवा हड़ताल द्वारा अन्न के भाव को चढ़ाना चाहते थे तो कुशूलों में उसका भाव गिरा दिया जाता था; अतः कृषीबलों को अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न को कम से कम कुशूलों के भाव पर बेचना पड़ता था। इन दिनों भी यह देखा जा रहा है कि हमारे देश में कई स्थान ऐसे हैं कि जहाँ के निवासी प्रायः सब कृषीबल हैं किन्तु कुशूल न होने से वहाँ अन्न का भाव सदा चढ़ा रहता है, इसके प्रतिपक्ष कई स्थान ऐसे हैं कि जहाँ खेती नहीं होती है किन्तु कुशूल होने से वहां अन्न सदा सस्ता मिलता है।

(२) अपने देश को परान्नभोजी देशों के लिए अन्नकी मंडी न होने देना—भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राकृतिक सन्निकर्षों के कारण भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ उत्पन्न हुआ करते हैं और तदनुसार वहाँ के लोगो की शारीरिक रचना भी होती है; अतः मनुष्यों का अपने-अपने देश में उत्पन्न हुए पदार्थों से निर्वाह करना स्वभावानुकूल होता है, किन्तु मनुष्य इस नियम की बहुधा उपेक्षा कर देते हैं।

जब कालक्रम से उनके देशों का अभ्युदय होने लगता है तब वे अपने देश में उत्पन्न हुए पदार्थों को छोड़कर दूसरे देशों में उत्पन्न हुए पदार्थों का भोजन करना सीख लेते हैं और उन देशों को अपने लिए एक प्रकार की अन्न की मण्डी बना लेते हैं, अतः उन मण्डी रूप देशों में अन्न की माँग बढ़ जाने से अन्न की कमी, और भाव की चढ़ती रहती है जिससे वहां के लोगों के लिए सदा अन्न-कष्ट रहा करता है, अतः अपने देश को परान्नभोजी देशों के लिए अन्न की मण्डी न होने देना आवश्यक समझा गया है। इसी प्रकार अपने देश के लिए दूसरे देशों को भी अन्न की मण्डी नहीं बनाना चाहिए, इसके विपरीत काम करने से अपने देश को परान्नभोजी होने का दुरभ्यास पड़ जाता है जिसके कारण अपने देश में उत्पादकों की संख्या कम हो जाती है और देश की आर्थिक स्वतन्त्रता जाती रहती है।

अर्थ को इस प्रकार वश में रखने से धर्म के प्रत्यर्थी अर्थ-दोषों का निवारण हो जाता है। अर्थायाम के विषय में हमारे अर्थशास्त्र में बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु उसके विषय में यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त समझा गया है।

प्लेटो के रिपब्लिक और अरिष्टॉटल के पौलिटिक्स में भी अर्थायाम की कुछ छाया पाई जाती है।

प्लेटो के मतानुसार समाज में अन्न-वस्त्र पर्याप्त होना चाहिए, अति दारिद्र्य और अति वैभव दोनों समाज के लिए अनर्थकारी होते हैं, द्रव्य का मान और प्रभाव होने से लोगों को धन-सञ्चय की बुरी लत पड़ जाती है; इस लत से श्रेष्ठ समाज का निकृष्ट समाज में, रिपब्लिक का टिमॅनी में, सज्जनों का दुर्जनों में परिवर्तन हो जाता है, अतः धन का मान और प्रभाव न बढ़ने देना धर्म कहा जाता है।

अरिष्टॉटल के मतानुसार व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिए अर्थ अत्यावश्यक वस्तु है, अतः प्राकृतिक उपायों द्वारा अर्थोपार्जन करना अच्छी बात है, किन्तु प्राकृतिक उपायों द्वारा अर्थोपार्जन में और अप्राकृतिक उपायों द्वारा द्रव्योपार्जन में बड़ा अन्तर है। द्रव्य बहुत आवश्यक वस्तु नहीं है। कुसीद और वाणिज्य द्वारा द्रव्योपार्जन करना अप्राकृतिक काम है। ठेकावन्दी अर्थात् किसी पदार्थ को बेचने का अधिकार केवल नियत व्यक्ति का होना समाज के लिए अनर्थकारी होता है, ठेकावन्दी से द्रव्योपार्जन करने वालों को राज्य से निकाल बाहर कर देना चाहिए, समाज की आर्थिक अवस्था मध्यवर्तिनी ठीक होती है, समाज में न तो भोजन-आच्छादन का दुःख होना चाहिए और न भोग-विलासों की तृष्णा होनी चाहिए। समाज की उक्त प्रकार की आर्थिक अवस्था रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए।

किन्तु वर्तमान पाश्चात्य दैशिक शास्त्र में अर्थायाम की गन्ध तक नहीं पाई जाती है; उसमें 'धनमर्जयध्वं धनमर्जयध्वम्" की धुन बँधी हुई है, ऐसी धुन कि जिसके प्रताप से बड़े-बड़े सम्राटों की जूतों की दुकानें खुलने लगी हैं, बड़े-बड़े राज्यों में जङ्गल की घास-लकड़ी का ठेका होने लगा है।

पूर्वापर अर्थशास्त्रों में मतैक्य हो नहीं सकता; कारण इसका यह है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र और हमारे अर्थशास्त्र के बीच अर्थ के परिणामों के विषय, कृत्रिम आवश्यकता के विषय, कष्टसाध्य आजीविका के विषय, भोजन के विषय, परमात्रिक वाणिज्य के विषय, युद्ध के विषय, परदेशों के विषय, भविष्य की भावना के विषय, स्वतन्त्रता के विषय में बड़ा मतभेद है:—

(१) **अर्थ के परिणाम के विषय**—पाश्चात्यों के अनुसार अर्थ की उष्णता से जाति को उत्तेजना मिलती है; किन्तु हमारे आचार्यों के अनुसार अनियन्त्रित अर्थ से जाति में उत्तेजना के बदले तामस आ जाता है, जाति को उत्तेजना मिलती है चिति और विराट से, न कि अर्थ से।

(२) **कृत्रिम आवश्यकता के विषय**—पाश्चात्यों के अनुसार कृत्रिम आवश्यकताओं का बढ़ना अभ्युदय का चिह्न समझा जाता है; किन्तु हमारे आचार्यों के अनुसार आवश्यकताओं के बढ़ने से परतन्त्रता बढ़ती है, और परतन्त्रता का बढ़ना अवपात का चिह्न समझा जाता है।

(३) **कष्टसाध्य आजीविका के विषय**—यूरप के मतानुसार आजीविका के कष्टसाध्य होने से जाति में कर्म्मण्यता उत्पन्न होती है; किन्तु प्राचीन भारत के अनुसार आजीविका के कष्टसाध्य होने से जाति पेटपालक, लोकायतिक और नीच प्रवृत्ति को हो जाती है।

(४) **भोजन के विषय**—यूरप का भोजन बहुधा अस्वाभाविक और हमारा भोजन स्वाभाविक होता है। भोजन का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः यह भी एक कारण है जिससे हम दोनों के आर्थिक सिद्धान्तों में भेद हो गया है।

(५) **परमात्रिक वाणिज्य के विषय**—यूरप के अनुसार परमात्रिक वाणिज्य से जातियों के परस्पर अधीन होने से उनमें ऐक्य होता है; अतः उनमें युद्ध की सम्भावना नहीं रहती है, किन्तु प्राचीन भारत के अनुसार ऐसे वाणिज्य का परिणाम भयंकर होता है और प्रतिक्षण युद्ध की सम्भावना रहती है। अब तक देखने में यही आया है कि परमात्रिक वाणिज्य ही संसार की वर्त्तमान अशान्ति का मूल कारण है।

(६) **युद्ध के विषय**—काण्ट आदि अनेक पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार एक दिन ऐसा आएगा कि संसार से युद्ध की प्रथा उठ जायगी; किन्तु हमारे आचार्यों के मतानुसार जब तक संसार रहेगा तब तक युद्ध की प्रथा प्रचलित रहेगी।

(७) **परदेशों के विषय**—यूरप के मतानुसार संसार के अन्य देश सदा उसके अधीन रहेंगे, उन अधीन देशों से उसको अन्न-वस्त्र सदा प्राप्त होता रहेगा; किन्तु भारत के मतानुसार आज जो देश स्वतन्त्र हैं कल उन्हें परतन्त्र होना है और जो आज भोग्य हैं कल उन्हें भोक्ता होना है; भारत के मतानुसार

"माटी कहै कुम्हार सों तू क्या रूंधे मोहि।
एक दिन ऐसा आयगा मैं रूंधूंगी तोहि॥"

अतः यह आशा नहीं हो सकती कि किसी देश को परदेशों से अन्न-वस्त्र सदा प्राप्त होता रहेगा।

(८) **भविष्यभावना के भविष्य**—पाश्चात्यों के अनुसार सदा शरद् बनी ही रहेगी कमल सदा खिलते रहेंगे, उनके देश सदा श्री के प्रमोद कानन बने ही रहेंगे, अतः दुर्दिनों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता है, किन्तु हमारे आचार्यों के मतानुसार संसार परिवर्तनशील है, इसमें किसी के दिन सदा समान नहीं रहते हैं, भारत के अनुसार—

"सदा न फूले तुरई, सदा न सावन होय"

अतः उनको सदा दुर्दिनों का ध्यान बना रहता है।

(९) **स्वतन्त्रता के विषय**—पाश्चात्यों के अनुसार मनुष्य को शासनिक स्वतन्त्रता से ही पूर्ण स्वतन्त्रता और केवल द्रव्यप्राचुर्य से पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है; किन्तु हमारे आचार्यों के मतानुसार शासनिक स्वतन्त्रता, आर्थिक और स्वाभाविक स्वतन्त्रताओं का संयोग हुए बिना किसी को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती और केवल द्रव्यप्राचुर्य से किसी को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

जो कुछ भी हो, अब इस समय मान सर्वत्र पाश्चात्य अर्थशास्त्र का ही है, हमारे भारत में भी इसका गौरव और पठन-पाठन होने लगा। अब भारत अपने इस प्राचीन सिद्धान्तों को भूलता जा रहा है कि अग्नि के समान अर्थ बड़ा उपयोगी होता है, किन्तु इसका संयम न होने से वह अग्नि के समान बड़ा अनर्थकारी भी हो जाता है। इतना ही नहीं, वरन् अर्थायाम को वह मूर्खता समझने लगा है। जागृतमानी भारत को अपनी वर्तमान शोचनीय आर्थिक अवस्था के अधोलिखित कारण मालूम होने लगे हैं:—

१. योगियों का बेकार पड़े रहना और अपना भार गृहस्थों पर डालना।

२. पर्वों, उत्सवों, संस्कारविधियों में धन का व्यय होना।

३. वाणिज्य की उपेक्षा करके कृषि के पीछे लगे रहना।

४. गो की बहुतायत से कृषियोग्य भूमि का गोचर के लिए कट जाना।

५. जमा करने अथवा जेवर बनाने से धन का संचार रुक जाना।

दासत्व के कारण जिस व्यक्ति अथवा जाति की बुद्धि आक्रान्त हो जाती है उसमें विचार शक्ति नहीं रहती, उसको हेत्वाभास और हेतु की जाँच नहीं होती है। अतः इन दिनों भारत के ऐसे विचार होना स्वाभाविक है।

इति दैशिकशास्त्रे विराड्ध्याये अर्थायामो
नाम तृतीयाह्निकः।

चतुर्थ आह्निक

व्यवस्था धर्म

विराट् के योगक्षेम के लिए वर्णाश्रम धर्म, अर्थायाम, देशकाल-विभाग के अतिरिक्त व्यवस्था धर्म की भी आवश्यकता होती है। वर्णाश्रम धर्म से मनुष्यों की प्रत्यर्थी प्रवृत्तियों में समता की धारणा होती है, अर्थायाम से अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों नहीं होने पाते हैं, देशकाल विभाग से मनुष्यों की चेष्टा और परिवर्तनशील प्रकृति के नियमों में ऐक्य हो जाता है, व्यवस्थाधर्म से समाज में स्वतन्त्रता और सहानुभूति का ऐक्य रहता है। व्यवस्थाधर्म कहते किसे हैं?

प्राचीन भारत के अनुसार व्यवस्था धर्म कहते हैं पर उन नियमों को जिनसे समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस् हो। ऐसे नियमों की पहिचान क्या? कुनियमों के चलाने वाले भी यह कह सकते हैं कि उनके चलाए हुए नियमों से समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस होगा; अतः भगवान् मनु ने व्यवस्था धर्म कहे जानेवाले नियमों का लक्षण कहा है, लोगों का सदाचार के साथ स्वहित साधन कर सकना; अतः जिस समाज में अथवा जिस राज्य में लोग असदाचार से स्वहित साधन करते हों अथवा सदाचार से स्वहित साधन न कर सकते हों वह समाज अथवा वह राज्य व्यवस्था धर्म से शून्य समझा जाता है। कदाचित् व्यवस्थाधर्म की इसी भावना के कारण जर्मन आचार्य फ्रेड्रिक नीत्शे हमारी मनुस्मृति का मान करते थे।

व्यवस्थाधर्म के तत्त्व को समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यवस्थाधर्म का उद्देश्य है समाज में स्वहित साधन और सदाचार का संयोग करना; किन्तु स्वहित साधन बिना स्वतन्त्रता के नहीं हो सकता और सदाचार बिना सहा-

नुभूति के नहीं होता है। समाज के अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए यह आवश्यक है कि समाज में स्वतन्त्रता और सहानुभूति का ऐक्य किया जाय अर्थात् समाज में ऐसे नियमों का प्रचार हो कि जिनसे सब मनुष्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा हो, कोई किसी की स्वतन्त्रता का प्रतिघाती न हो, प्रत्येक मनुष्य अपने शारीरिक और सामाजिक योग्यतानुसार समाज की सेवा किया करे और उस सेवा के लिए उसको अपने को पहले से ही योग्य बनाना पड़े। वे ही नियम हमारे धर्म-शास्त्र में व्यवस्थाधर्म के नाम से कहे जाते हैं, जिन नियमों में ये बातें नहीं होती है अथवा जिनमें इन बातों में से किसी एक में भी बाधा पड़ती है वे व्यवस्थाधर्म नहीं कहे जाते। जर्मन आचार्य काण्ट का मत भी प्रायः ऐसा ही है, उनके मतानुसार ऐसे सामाजिक नियम व्यवस्थाधर्म कहे जाते हैं कि जिनमें स्वतन्त्रता के नियमों के अनुसार एक मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा का संयोग दूसरे मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा से किया जाता है।

व्यवस्थाधर्म प्रेरक रूप और निवारक रूप से दो प्रकार का होता है।

प्रेरक रूप व्यवस्थाधर्म उसको कहते हैं कि जिससे लोगों से काम्य कर्म करवाए जाते हैं।

निवारक रूप व्यवस्थाधर्म उसको कहते हैं कि जिससे लोग निषिद्ध कर्म करने से रोके जाते हैं।

व्यवस्थाधर्म का प्रवर्तन क्रमशः चार प्रकार से किया जाता है, विनयाधान से आदेश पत्र से, प्रायश्चित्त से और दण्ड से।

विनयाधान से सब लोग ऐसे बनाए जाते थे कि वे व्यवस्थाधर्म को अच्छी तरह जानते थे और अपने आप आनन्दपूर्वक उसका पालन करते थे; जब कोई न जानने से उसका पालन नहीं करता था तो आदेश-पत्र द्वारा उसकी भूल और कर्तव्य उसको समझा दिए जाते थे। जब कोई कामक्रोधादि के कारण व्यवस्था धर्म का उल्लंघन करता था तब उससे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करवायी जाती थी, जब कोई आग्रहपूर्वक उसका उल्लंघन करता था तो उसको दण्ड दिया जाता था। हमारे आचार्यों के मतानुसार व्यवस्थाधर्म का समष्टिगत ज्ञान करवाए बिना, अथवा यह मान कर कि सब मनुष्य व्यवस्थाधर्म को अपने आप जानते हैं, अथवा भूल से व्यवस्थाधर्म का उल्लंघन करनेवाले को दण्ड देना, अथवा प्रायश्चित्त के स्थान में दण्ड को काम में लाना, अथवा अननुरूप दण्ड का प्रयोग करना अधर्म समझा जाता है; दण्ड से प्रायश्चित्त अनेकधा श्रेयस्कर समझा जाता था। क्योंकि प्रायश्चित्त से मनुष्य का हृदय शुद्ध हो जाता है जिससे उस पूर्वकृतापराध की पुनरावृत्ति नहीं होती; किन्तु दण्ड से तेजस्वी लोगों में क्रोधाग्नि भड़क उठती है जिससे उन पूर्वकृतापराध की पुनरावृत्ति अथवा वृद्धि होने की अधिक संभावना रहती है।

व्यवस्थाधर्म में सर्वत्र तीन बातें होती हैं:—(१) उद्देश्य अर्थात् वह प्रयोजन जिससे व्यवस्थाधर्म की सृष्टि होती है, (२) उपनय अर्थात् वह मानी हुई बात जिसको लेकर व्यवस्थाधर्म का निर्माण होता है, (३) मूल अर्थात् वह पदार्थ जिससे व्यवस्थाधर्म की उत्पत्ति होती है।

हमारे व्यवस्थाधर्म के उद्देश्य हैं (१) स्वतन्त्रता और सहानुभूति के संयोग द्वारा समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस करना (२) उपनय उसका अर्थात् उसकी मानी हुई बातें ये हैं:—(क) विधिपूर्वक प्रचार हुए विना किसी को व्यवस्थाधर्म का ज्ञान नहीं हो सकता है- (ख) वास्तविक शुद्धि प्रायश्चित्त से होती है न कि दण्ड से, (ग) अनाप्त मनुष्य सब स्खलनशील होते हैं। (३) व्यवस्थाधर्म का मूल है श्रुति।

इस प्रकार के उद्देश्य, उपनय और मूल से हमारे व्यवस्थाधर्म की यह विशेषता हो गई है कि उसके नियम सदा बुद्धिसङ्गत, सरल, अल्पसंख्यक, विद्वद्विलासवर्जित, वस्तुमूलक, अपरिग्रही, विरलदण्ड, समदर्शी, आप्तोक्त और मूलानुसारी होते हैं; जिन नियमों में ये विशेषताएँ नहीं होती हैं वे व्यवस्थाधर्म नहीं हो सकते, क्योंकि:—

(१) समाज में व्यवस्थाधर्म के अनुसार चलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है। शासक का कर्तव्य होता है व्यवस्थाधर्म का उल्लंघन करने वाले से प्रायश्चित्त करवाना अथवा उसको दण्ड देना। किन्तु न जानी हुई बात के अनुसार कोई चल नहीं सकता और अज्ञात बात के कारण दण्ड भोगना और देना दोनों अस्वाभाविक और अधर्म होते; अतः सबको व्यवस्थाधर्म का ज्ञान होना आवश्यक होता है किन्तु जो नियम बुद्धिसङ्गत नहीं होते अथवा जटिल होते हैं उनका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को नहीं हो सकता और न किसी की उनमें श्रद्धा होती है; जो नियम बहुसंख्यक होते हैं उनमें न प्रत्येक मनुष्य की गति होती है और न सबको उनकी स्मृति रहती है; अतः ऐसे दुर्गम और दुःस्मरणीय नियमों से समाज कभी सुपरिचित नहीं हो सकता; जिस बात में विद्वद्विलास होता है वह साधारण बुद्धिवाले लोगों की समझ से बाहर हो जाती है, जो बात अवस्तुमूलक होती है भली भाँति उसका समझना तथा ग्रहण करना सारे समाज के लिए तो क्या विशेष व्यक्ति के लिए भी सम्भव नहीं होता है। जिन नियमों को लोग न जानते हैं, न उनसे परिचित होते हैं, न उनको समझते हैं, न उनमें श्रद्धा रखते हैं, न उनको ग्रहण करते हैं उन नियमों के अनुसार वे चल नहीं सकते। अतः ऐसे नियमों के अनुसार लोगों को चलाने के लिए समाज में दण्डद्वारा त्रास फैलाना पड़ता है। इस प्रकार त्रास से चलाए जाने वाले नियम आसुर नियम कहे जाते हैं, ऐसे नियमों से बनी हुई शान्ति क्षणभंगुर और अनर्थकारिणी होती है।

अपरंच बुद्धिसङ्गत और अवस्तुमूलक बातों का अभ्यास होने से बुद्धि आक्रान्त और कुण्ठित हो जाती है, विद्वद्विलास बहुधा वास्तविक उद्देश्य को गौणरूप देकर आप मुख्यरूप धारण कर लेता है, अज्ञात नियमों का पालन करने के कारण लाभ मिलने से अथवा उनका उल्लंघन करने के कारण दण्ड मिलने से समाज में उन अज्ञात नियमों का खूब तोड़-मरोड़ हुआ करता है जिनके कारण समाज में बुद्धि-कौटिल्य उत्पन्न हो जाता है।

व्यवस्थाधर्म के परिग्रही होने से अर्थात् उसके द्वारा उसके प्रवर्तक को किसी प्रकार का लाभ होने से अथवा उसकी किसी प्रकार की कामना-सिद्धि होने से व्यवस्थाधर्म अपने उद्देश्य से भ्रष्ट होकर व्यवसाय में परिणत होने लगता है, ऐसा होने से समाज में व्यवस्थाधर्म के नाम से लूट-खसोट हुआ करती है और अधर्म की पताका फहराने लगती है।

व्यवस्थाधर्म के सतत दण्ड होने में लोगों का स्वभावतः उसके प्रति द्वेष हो जाता है, अन्त में राजा और प्रजा में वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है; अतः प्रतिक्षण राज्य-विप्लव की सम्भावना बनी रहती है।

समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस करनेवाले, स्वतन्त्रता और सहानुभूति का संयोग करने वाले, सदाचार के साथ स्वहित साधन करनेवाले नियमों को बनाना किसी रागद्वेषयुक्त बुद्धिवाले मनुष्य का काम नहीं है; अतः हमारे धर्म-शास्त्रानुसार यह काम तत्त्वदर्शी निष्काम अरण्यवासी ब्राह्मणों के हाथ में रहता था, न कि राजा के हाथ में, क्योंकि राजसी सन्निकर्षों के कारण राजा अथवा उसके अधिकारी वर्ग की बुद्धि में स्वार्थ और प्रमाद उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक होता है, जिससे उनके स्खलनशील होने की बहुत सम्भावना रहती है; अतः व्यवस्थाधर्म की रचना में राजा का कुछ हस्तक्षेप नहीं होता था, यदि कुछ व्यवस्थाधर्म की रचना की अथवा उसके सिद्धान्त की व्याख्या करने की अथवा उसके कुछ नियमों में देशकालनिमित्तानुसार कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होती थी तो यह काम श्रुति और धर्म के जानने वाले तीन-चार मनुष्यों की सभा अथवा एक आप्त के हाथ में होता था, कहा भी है

"चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् स्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यो हि स धर्मः स्यादेको वा धर्मवित्तमः॥"

रूमी पण्डित सिसरो का मत भी प्रायः ऐसा ही है, उनके मतानुसार व्यवस्था धर्म की रचना मानसिक और सामाजिक शास्त्र के ज्ञाता तत्त्वदर्शी लोगों के हाथ में होनी चाहिए। भगवान् मनु के अनुसार—

"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥"

अतः हमारे धर्मशास्त्र में पूर्व निर्णय प्रमाण नहीं माना जाता है। फ्रांस, जर्मनी आदि कई यूरपीय देशों में भी प्रायः ऐसा ही होता है, केवल इङ्गलिस्तान, अमेरिका और अर्वाचीन भारत में नजीरों को बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

हमारे व्यवस्थाधर्म की उत्पत्ति है श्रुति से, श्रुति कहते हैं वेद को, वेद किसी एक मनुष्य के किसी विशेष समय में बनाए हुए नहीं हैं, वे भिन्न-भिन्न समय में पृथक् पृथक् ऋषियों के समाधिजन्य ज्ञान के संग्रह हैं, उस समाधिजन्य-ज्ञान के विषय में सुनी हुई बातों का वेदों में संग्रह होने से वे श्रुति अर्थात् सुनी हुई बात कहे जाते हैं। जब श्रुति बहुत बढ़ गई और उसमें अनेक शास्त्र और अनन्त विद्याओं का संकुल हो गया जिससे श्रुति का समष्टिगत प्रचार होना असम्भव हो गया, तब उसमें से भिन्न-भिन्न विषय को बीन बीन कर पृथक् पृथक् शास्त्र निकाले गए। सब से अधिक और पहली आवश्यकता हुई धर्मशास्त्र की अर्थात् मनुष्य के प्रत्यर्थी भावों को साम्य की धारणा करने वाले शास्त्र की; अतः भगवान् मनु के आज्ञानुसार श्रुतिसागर का मन्थन होना आरम्भ हुआ, उससे प्रथम रत्न जो प्राप्त हुआ वह मानव धर्मशास्त्र था। यह शास्त्र सूत्रबद्ध किया गया, सब इसको कण्ठस्थ करने लगे ताकि उनको इस शास्त्र की स्मृति सदा बनी रहे, अतएव यह शास्त्र मनुस्मृति के नाम से कहा जाने लगा। मनुस्मृति में अनेक धर्मों की मीमांसा की गई, तत् पश्चात् मरीचि आदि अनेक ऋषियों ने मानवधर्मशास्त्र में उपदेश किये हुए एक-एक धर्म को लेकर अलग-अलग स्मृतियाँ रचीं, किसी ने व्यवस्थाधर्म पर, किसी ने आचार पर, ये सब स्मृतियाँ सूत्र-बद्ध थीं, कालान्तर में इन सब स्मृतियों का लोप हो गया। पण्डितों ने स्मृति-परम्परा से प्राप्त हुई उन पूर्व स्मृतियों की छाया लेकर और कुछ सामयिक बातें अपने मन से जोड़कर उन पूर्व स्मृतियों के नाम से श्लोकबद्ध स्मृतियों की रचना की, पीछे बनी हुई इन श्लोकबद्ध स्मृतियों में मनुस्मृति का सबसे अधिक गौरव है, मनुस्मृति में उक्त प्रकार की पुना रचना कई बार हो चुकी है। अब उन पीछे बनी हुई श्लोकबद्ध स्मृतियों में से भी अनेकों का लोप हो गया है, इस समय केवल मनु, याज्ञवल्क्य आदि इनीगिनी स्मृतियाँ देखने में आती हैं, समय ने पल्टा न खाया तो थोड़े दिन में इनका भी लोप हो जायगा।

अब भारतरूपी गल में (हिमस्रोत में) दृश्य बिलकुल बदल गया है; अब उनके अनुपम शुभ्र भूमि-भागों में प्रातःकाल के सूर्य्य देव की तिरछी किरणें पड़ी हुई नहीं हैं, अब उसमें नीहार उठ गया है, अब यहाँ व्यवस्थाधर्म का नाम, उसकी परिभाषा; उसके लक्षण, उसका तत्त्व, उसका उद्देश्य, उपनय, मूल और विशेषता सब बदल गए हैं। अब यहाँ व्यवस्थाधर्म का नाम लॉ (Law) अथवा कानून हो गया है, लॉ अथवा कानून कहते हैं शासक के हुक्म को, लक्षण उसका है समाज में उसका उल्लंघन न हो

सकना, अतः उसका तत्त्व है पोजेटिवनेस (Positiveness) अर्थात् बलात पालन करवाए जाने की शक्ति, उसको न माननेवाले को दण्ड दिया जाना, कानून के इस तत्त्व का इन दिनों भारत में इतना प्रचार है कि साधारण लोगों के अनुसार सभी सरकारी हुक्म कानून समझे जाते हैं, साधारण लोगों के विचार और वकीलों के विचारों में भेद केवल इस बात का है कि वकीलों के मतानुसार कानून कहे जाने वाले सरकारी हुक्म विधिविधानपूर्वक लैजिस्लेटिव कौन्सल में अर्थात् कानून बनानेवाली सभा में होकर निकलने चाहिएं, किन्तु साधारण लोगों के अनुसार ऐसी कोई आवश्यकता नहीं, आवश्यकता केवल इस बात की है कि उस हुक्म का देनेवाला कोई सरकारी आदमी होना चाहिए चाहे पतरौल पटवारी ही क्यों न हो। वर्तमान कानूनों का उद्देश्य है राज्य के हित का योगक्षेम करना, उपनय उसके हैं:—सब लोग कानूनों को अपने आप जानते हैं अथवा एक बार अंग्रेजी में लिखे हुए सरकारी गजट में छप जाने-से सब लोग कानूनों को जान जाते हैं, अतः कानूनों का ज्ञान न होने से कोई दण्ड से मुक्त नहीं हो सकता है, शुद्धि का एकमात्र उपाय है दण्ड, राजा से गलती नहीं हो सकती है अर्थात् 'राजा करे सो न्याव,' मूल में इन कानूनों के हैं रूमी धर्मशास्त्र किन्तु उनके धड़ में पेवन चढ़ हुआ है इङ्गलिस्तान के विचारों का, फिर भारत में गरमी पाकर समय-समय में बात-बात के लिए उनमें नई-नई शाखारूप कानून बन गए तदनन्तर उनमें प्रिवीकौन्सल और हाथकोर्टों की नजीर के पत्ते आते जाते हैं, अतः उनमें साधारण लोगों की तो क्या, साधारण वकीलों की भी गति होना कठिन हो गया है।

वर्तमान कानूनों के ऐसे तत्त्व, ऐसे उद्देश्य, ऐसे उपनय ऐसे उत्पत्ति के कारण उनकी यह विशेषता हो गई है कि वे बहुधा अबुद्धिसङ्गत, जटिल, बहुसंख्यक, विद्वद्विलासिक, अंवस्तुमूलक, परिग्रही, सततदण्ड, असमदर्शी, अनाप्तोक्त और पूर्वकृतानुसारी होते हैं। इन विशेषताओं के उदाहरण जहाँ-तहाँ मिलते हैं यथा:—

१. जिस बन्धक पत्र में अनेक साक्षियों के हस्ताक्षर नहीं होते उसका साधारण ऋणपत्र समझा जाना, चाहे उसमें बन्धक रखने वाले और एक साक्षी के हस्ताक्षर हों और उस बन्धक पत्र की रजिष्टरी भी हो गई हो और चाहे बन्धक रखने वाला उसको स्वीकार भी करता हो।

२. किसी रुक्के का, जिसमें भूल अथवा न मिल सकने के कारण एक आने का टिकट न लगा हो, साक्षी में न लिया जाना।

३. किसी साहूकार के, जो कार्यवशात् कहीं परदेश गया हो किन्तु बीमारी के कारण वहा रुक गया हो और इस बीच उसके ऋणपत्रों की मीयाद चली गई हो, रुपयों का दावा न हो सकना।

४. उग्र आरकन्दी चरस के बदले मधुर चौगर्खा चरस को काम में लानेवाले को दण्ड दिया जाना।

५. अपनी गोशाला में परचे हुए वाघ को मँगनी में बन्दूक लाकर मारनेवाले को आर्मस् ऐक्ट के अनुसार दण्ड दिया जाना।

ऐसे और भी अनेक कानून हैं, जिन सबका यहाँ उल्लेख नहीं हो सकता है, किन्तु उन सबमें आर्मस् ऐक्ट और कानून मीयाद ऐसे हैं जो वकीलों के अतिरिक्त और किसी के समझ में नहीं आ सकते हैं।

इन कानूनों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि इसका अनुमान किसी अच्छे वकील का पुस्तकालय देखने से हो सकता है, उस पुस्तकागार को देखने से सबके मन में एक बार यह विचार उठ जाता है कि जितने समय और जितने परिश्रम से इन कानूनों का जङ्गल छाना जाता है उतने समय और उतने परिश्रम से मनुष्य कुछ का कुछ हो सकता है।

अंग्रेजी कानूनशास्त्र के अनुसार न्याय दो प्रकार का समझा जाता है एक प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) और दूसरा कानूनी न्याय (Legal Justice) और यह भी कहा जाता है कि सभ्य समाज में कानूनी न्याय हुआ करता है; अतः इन दिनों न्यायालयों में विद्वद्विलास की आवश्यकता बढ़ती जा रही है।

ऐसे कानूनों का समाज में बिना दण्ड का प्रयोग हुए प्रचार नहीं हो सकता अतः वे बहुधा सततदण्ड होते हैं और जो दण्डात्मक नहीं समझे जाते हैं उनमें भी कहीं-कहीं दण्ड की झलक दिखाई देती है; यथा स्टाम्प ऐक्ट।

इन कानूनों की रचना अथवा उनमें परिवर्तन होता है शासक की आज्ञा से अथवा उसकी प्रतिनिधि कानून बनानेवाली सभा द्वारा, अतः शासक कानूनों से श्रेष्ठ समझा जाता है, वह जो चाहे कर सकता है; जैसे कानून चाहे वैसे बना सकता है, जैसा चाहे उनमें परिवर्तन कर सकता है।

भारत में इन कानूनों की उत्पत्ति हुई है अंग्रेजी राज्य से, अंग्रेजी राज्य में कानूनों की रचना होती हैं रूमी धर्मशास्त्रानुसार, रूमी धर्मशास्त्र में शासक की मर्जी कानून समझी जाती है। कारण इसका यह है कि पहले जब रोम में रिपब्लिक राज्य था तब वहाँ सिनेट नाम की सभाद्वारा कानूनों का मसविदा बनता था, उस मसविदे के विषय में ट्रिब्यूनेट नाम की प्रजा प्रतिनिधि सभा की सम्मति ली जाती थी, इम्पीरियम नामक अधिकारी-मण्डली द्वारा उन कानूनों का प्रचार किया जाता था; किन्तु सिनेट और ट्रिब्यूनेट के सदस्य बहुधा निकम्मे, कुटिल और स्वार्थपरायण लोग होते थे; सिनेट को प्रजाहित के योगक्षेम की अपेक्षा अपने पद और अधिकारों

को बनाए रखने का अधिक ध्यान रहता था, ट्रिब्यूनेट सिनेट की हाँ में हाँ मिला दिया करती थी, इम्पीरियम सदा उद्दण्ड रहकर त्रास फैला दिया करती थी; सिनेट, ट्रिब्यूनेट और इम्पीरियम की ऐसी कार्यवाही से प्रजा खिन्न हो गई, रोम में अशान्ति फैल गई,सिनेट डावाँडोल हो गई, रिपब्लिक का चलना कठिन हो गया,निदान राज्य-शैली में कुछ परिवर्तन किया गया, सल्ला नामक एक व्यक्ति कुछ समय के लिए रोम का डिक्टेटर अर्थात् स्वतन्त्र अध्यक्ष बनाया गया, उसकी डिक्टेटरी में सिनेट बहुत-कुछ सम्हल गई, प्रजा के ऊपर सिनेट का डङ्का फिर बजने लगा; सरासर बिल स्वीकार होकर कानूनों की भरमार होने लगी, इन कानूनों के कारण प्रजा की नाक में दम आ गया, एक-एक पल उसको भारी होने लगा, फलतः रोम की दशा सुधरने के बदले अधिक बिगड़ गई। निदान तीन तेजस्वी पुरुष सिनेट के विरुद्ध खड़े हो गए; इन महापुरुषों के नाम थे पौम्पियस, ज्यूलियस, एवम् क्रेसस, इन तीन वीरों का जुट रोम के इतिहास में प्रथम ट्रायम्वरेट के नाम से कहा जाता है, इस ट्रायम्वरेट के उद्योग से ज्यूलियस रोम का कौन्सल अर्थात् उपदेशक बनाया गया, ज्यूलियस के कौन्सल बनते ही सिनेट के बनाए हुए कानून सब रद्द किए जाने लगे, सिनेट बिलकुल फीकी और निर्बल हो गई। कालान्तर में इन वीरों में फूट हो गई, वे आपस में लड़ने लगे, मेसोपोतामिया में क्रेमस का और मिस्र में पौम्पियस का दीप निर्वाण हो गया, रह गया केवल ज्यूलियस जो जन्मभर के लिए रोम साम्राज्य का डिक्टेटर बनाया गया, सिनेट के अधिकार एक-एक करके ज्यूलियस को मिलने लगे, उसके बढ़ते हुए तेज के सामने सिनेट निस्तेज हो गई, कानून-रचना के समय सिनेट की बहुत कम परवाह की जाने लगी, ज्यूलियस सीजर जैसा चाहता था वैसा कानून बना लेता था; अन्त में उसके विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचा गया और एक दिन सिनेट सभाभवन में कुछ सर्दारों के हाथों सीजर मारा गया; उसके मारे जाने पर सिनेट को अपने गये हुए अधिकार फिर मिल गए; किन्तु रोम साम्राज्य रिपब्लिकन और सिजरियन दो दलों में विभक्त हो गया, सिनेट का पक्षपाती दल रिपब्लिकन और सीजर का दल सिज-रियन कहा जाने लगा; सिजरियन दल के नेता तीन व्यक्ति थे, सीजर का उत्तरा-धिकारी ऑक्टेवस और उसके दो मित्र अन्टोनियस और लिपिडस, इन तीन व्यक्तियों ने अपना एक जुट बना कर सीजर को मारनेवाले सर्दारों से बदला लेना चाहा, फिलिप के मैदान में इन दो दलों में बड़ा भारी युद्ध हुआ जिसमें रिपब्लिकन दल हारकर नष्टभ्रष्ट हो गया। कानून बनाने का अधिकार सिनेट से छिनकर फिर इन तीन व्यक्तियों के हाथ में आ गया, तदनन्तर पहले की भाँति इस गुट में भी फूट हो गई, लिपिडस और अण्टोनियस को भाग्य ने सहारा नहीं दिया वे जहाँ के तहाँ विलीन हो गए ऑक्टेवस का प्रताप दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया, उसके सामने सिनेट और ट्रिब्यूनेट की कान्ति मलिन हो गई; किन्तु ऑक्टेवस् बड़ा चतुर और दूरदर्शी

था, उसने मौनार्की एकदम स्थापित करने के बदले क्रमशः ऐसा करना उचित समझा; अतः उसने सिनेट और ट्रिब्यूनेट की सम्मति लेकर सेना सम्बन्धी समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये और ज्यूलियस सीजर के प्रतिपक्षी पुराने सर्दारों को अपने में मिला लिया, तदनन्तर औक्टेवस ने सिनेट का उपदेशक पद अपने आप छोड़ दिया जिसके बदले में सबों ने मिलकर उसको जन्मभर के लिए समस्त रोम साम्राज्य का ट्रिब्यून और प्रेटर बना दिया; ट्रिब्यून रूप में कानूनों का सूत्रवान औक्टेवसको इच्छानुसार होने लगा, प्रेटर रूप में उसके इच्छानुसार सिनेट में बिल पास होने लगे, सेनाधिपति रूप में सबमें उसकी दहल बैठ गई, किसी को उसकी आज्ञाभङ्ग करने का साहस नहीं होता था, अर्थात् औक्टेवस सीजर ट्रिब्यून रूप में बिल तैयार करता था प्रेटर रूप में उसको स्वीकार करता था और सेनानी रूप में उनका प्रचार करता; क्रमशः औक्टेवस सीजर के सब आज्ञापत्र कानूनों के बराबर समझे जाने लगे, कालान्तर में इसका परिणाम यह हुआ कि रोम में शासक का हुक्म कानून माना जाने लगा, पौजेटिवनेस (Positiveness) अर्थात् बलात् पालन करवाये जाने की शक्ति कानून का तत्त्व समझी जाने लगी; अर्थात् रोम में यह सिद्धान्त माना जाने लगा कि 'राजा करे सो न्याव'।

कानून की यह कल्पना उन समस्त देशों में फैल गई जिन्होंने रोम से धर्मशास्त्र की शिक्षा ली; अतः इङ्गलिस्तान में भी कानून की यही कल्पना मानी जाती है, भारत में इङ्गलिस्तान का राज्य होने से यह कल्पना पूरे सोलह आने भर बरती जाती है। परन्तु अब पार्लियमेन्ट सर्वोच्च है।

भारत में कानून के अधिकार राजा के प्रतिनिधि बड़े लाट और छोटे लाटों को दिए रहते हैं; उनको काम बहुत होता है, अतः उनकी सहायता के लिए उनकी एक एक कानून बनानेवाली सभा भी रहती है जिसको लेजिस्लेटिव-कौन्सल कहा करते हैं, किन्तु ये लेजिस्लेटिव कौन्सलें, रोम का सिनेट अथवा इङ्गलिस्तान के हाउस औफ लौर्ड के समान नहीं होती हैं, वे बिलकुल बड़े लाट अथवा छोटे लाटों के अधीन होती है, इन कौन्सलों को अपने अध्यक्ष बड़े लाट अथवा छोटे लाट के इच्छानुसार कानून बनाने पड़ते हैं; जब कोई नया कानून बनता है अथवा पुराने कानून में कुछ परिवर्तन किया जाता है तो पहिले लेजिस्लेटिव कौन्सल में बिल अथवा मसविदा पेश होता है तब उस बिल पर वादानुवाद होता हैं अन्त मे अध्यक्ष की सम्मति से जो बात पक्की ठहरती है वह कानून के रूप में निकाली जाती है और तब वह सर्कारी गजट में छापी जाती है और यह मान लिया जाता है कि सब लोग उससे परिचित होगए हैं। इन लेजिस्लेटिव कौन्सलों में कोई कोई हमारे लोग भी सदस्य बनाए जाते थे किन्तु इन शोभापात्र सदस्यों से काम कुछ नहीं हो सका। वे आज तक न कोई ऐसे कानून बना सके जिनको भारत बनाना चाहता है और न

उनसे कोई ऐसे कानून रद्द हो सके जिनको वह रद्द करना चाहता है राजा के प्रतिनिधि जैसे कानूनों का सूत्रपात करते हैं अथवा जैसा वे चाहते हैं वैसे कानून बनाए जाते हैं हमारे सदस्य केवल ऐसे कानून बना सकते हैं कि जैसे विधवाविवाह-सम्बन्धी, अन्तर्वर्णविवाह सम्बन्धी; शासन सम्बन्धी कानून-रचना में उनकी तूती की कुछ सुनवाई नहीं होती है।

अर्वाचीन भारत के कानूनों की मूलोत्पत्ति और उत्तर वृद्धि का दिङ्मात्र वर्णन हो चुका है जिससे भली भांति यह समझ में आ सकता है कि क्योंकर प्राचीन भारत के व्यवस्थाधर्म और अर्वाचीन भारत के कानूनों में इतना भेद हो गया है। अब हमारा राज्य न रहने से हमारे व्यवस्थाधर्म का लोप हो गया है। हमारे विराट् रूपी चन्द्रमा के अन्तर्धान होने पर ऐसा होना ही था क्योंकि—

"शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तड़ित् प्रलीयते"।

इति दैशिकशास्त्रे विराडाध्याये व्यवस्थाधर्म पद्योलोचनोनाम
चतुर्थ आह्निकः।

पञ्चम आह्निक

देशकाल-विभाग

संसार में सब कुछ देशकाल के अनुसार होता है, देशकाल के अनुकूल होने पर सब काम सिद्ध होते हैं, और उनके प्रतिकूल होने पर सब काम नष्ट होते हैं; किन्तु देशकाल सदा बदलते भी रहते हैं, वे कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल होते हैं; अतः किसी काम को सिद्ध करने के लिए अनुकूल देशकाल से लाभ उठाना और प्रतिकूल देशकाल का प्रतिकार करना आवश्यक होता है, बिना ऐसा किये किसी काम की सिद्धि नहीं हो सकती है, जो काम प्रयाग के गङ्गातट पर जेठ के महीने में जिस प्रकार होता है वह मानसरोवर के तीर पर माघ के महीने में उस प्रकार नहीं हो सकता है; भगवती प्रकृति के सब काम देशकाल-विभाग के अनुसार ही हुआ करते हैं, विराट के योगक्षेम के लिए भी गुणशास्त्रानुसार देशविभाग और ज्योतिष्शास्त्रानुसार काल-विभागका होना, और फिर उन देशकाल-विभागों के अनुसार शासन-चर्य्या का होना आवश्यक होता है; बिना ऐसा हुए न विराट् का योगक्षेम होता है, न वर्णाश्रमधर्म निभ सकता है, न अर्थायाम हो सकता है, केवल शक्ति, समय और अर्थ का वृथा क्षय होता है।

देशकाल-विभाग और तदनुरूप चर्य्या के विषय में हमारे आचार्यों ने बहुत कुछ कह रखा है, हमारे गुणशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र की सृष्टि इसी लिए हुई थी। गुण-शास्त्र का तो अब कहीं पता भी नहीं चलता है केवल वैद्यक निघंटु और योग की टीकाओं में उसका कुछ उल्लेख देखा जाता है, ज्योतिषशास्त्र अबतक कुछ वर्तमान है, किन्तु बिलकुल दूसरे रूप में। इस पुस्तक में देशकाल-विभाग के विषय में दो एक बातें लिखी जाती हैं, स्थानाभाव के कारण पूरा वर्णन नहीं हो सकता।

हमारे आचार्यों के मतानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में तत्त्वादि गुणों की भिन्न-भिन्न प्रकार की मात्रा होने से वहां का जलवायु और वहां के अन्नादि भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, उसी जलवायु और उसी अन्नादि के अनुसार वहां के मनुष्यों की बुद्धि, मन और शरीर भी होते हैं, बुद्धि, मन, शरीर के अनुसार काम करने से हित और तद्विपरीत काम करने से अहित होता है; अतः हमारे दैशिकाचार्यों ने गुणशास्त्रा-नुसार सत्वादि गुणों की मात्रा का विचार करके समस्त देश को अनेक आवर्तों में, प्रत्येक आवर्त को अनेक राष्ट्रों में, प्रत्येक राष्ट्र को पुरों में विभक्त किया, प्रत्येक पुर अनेक ग्रामों से घिरा रहता था। देश की विशेषता क्षिति समझी जाती है और अधिष्ठाता उसके ऋषि होते थे, आवर्त की विशेषता आचार समझा जाता था और अधिष्ठाता उसके आचार्य होते थे, राष्ट्र की विशेषता शास्त्रों पर समझी जाती थी और अधिष्ठाता उसके विद्वान् होते थे, पुर की विशेषता व्यवसाय समझा जाता था और अधिष्ठाता उसका व्यवसायी होता था, ग्राम की विशेषता अर्थ होता था और उसके अधिष्ठाता अर्थोत्पादक होते थे। एक विभाग की विशेषता से दूसरे विभागों को लाभ पहुँचाना और उसकी न्यूनता को उसके सहवर्गियों की विशेषताओं से पूरा करना राज्य का मुख्य कर्तव्य समझा जाता था।

अपने देश की सीमाओं में जो राष्ट्र होते थे वे इतने शक्तिशाली होते थे कि जो अपने सन्निहित पर राष्ट्र को युद्ध में अकेले अनायास पराजित कर सके, परन्तु फिर भी जब कभी किसी स्वराष्ट्र का किसी परराष्ट्र से युद्ध छिड़ता था तो वह युद्ध समस्त देश का समझा जाता था, सब राष्ट्र अपनी-अपनी शक्ति को लेकर उस युद्ध में सम्मिलित होते थे। जबसे हमारे राष्ट्र देशधर्म को त्याग कर अपनी-अपनी टोपी बचाए रखने की सूझने लगी तभी से उसका अवपात होने लगा।

राष्ट्र अनेक प्रकार के होते थे, कोई बड़े और कोई छोटे, बड़े राष्ट्रों की पुरसंख्या के विषय में कोई नियम नहीं है किन्तु सबसे छोटे राष्ट्र में चार पुर होते थे, प्रत्येक राष्ट्र के मध्य में एक पुर होता था जो राष्ट्रनिधि अथवा राज्याधिष्ठान कहा जाता था राष्ट्रनिधि के चारों ओर अन्य पुर होते थे, एक पुर दूसरे पुर से कम से कम बारह गव्यूति (अड़तालीस मील) की दूरी पर होता था और अधिक से अधिक चौबीस गव्यूति की दूरी पर होता था; पुर की जनसंख्या कम से कम दस सहस्र और अधिक से अधिक

पाँच लाख होती थी; प्रत्येक पुर बीच-बीच में आपणों में विभक्त होता था; एक आपण दूसरे आपण से इतनी दूरी पर होता था कि जितनी उन दो सन्निहित आपणों की लम्बाई होती थी, एक आपण में प्रायः एक सौ घर होते थे, आपणों में सब घर बहुधा एक ही कतार में, कभी-कभी दो कतारों में भी बने होते थे, वे सब घर बराबर ऊंचाई के बने होते थे, प्रत्येक घर के आङ्गन की चौड़ाई उस घर की ऊंचाई से दो गुना होती थी। घर के सामने की भूमि आङ्गन कही जाती है। प्रत्येक पुर के बाहर चारों ओर वनभूमि होती थी जो कम से कम इतनी होती थी कि जिसमें उस पुर के लोगों के लिए ईंधन, उनकी संख्या से दूनी गायों के लिए घास, उस पुर की जन-संख्या के चतुर्थांश लोगों के लिए अर्थात् वहां के ब्रह्मचारी और वानप्रस्थों के लिए आश्रम हो सके; यह वनभूमि अकर होती थी, इसमें किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जाता था, वरन् राज्यकोष से इसकी रक्षा के लिए द्रव्य व्यय किया जाता था, इस अकर भूमि के साथ कृषिवाटिका, उपवन इत्यादि के लिए इतनी ही सकर भूमि रखी जाती थी, यह भूमि के पुर और अकर भूमि बीच होती थी।

इन सकर और अकर भूमियों के बाहर पुर के चारों ओर ग्राम बसे हुए होते थे, ग्राम की जनसंख्या कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक एक सहस्र होती थी; एक ग्राम दूसरे ग्राम से कम से कम आधी गव्यूति और अधिक से अधिक दो गव्यूति की दूरी पर होता था, जिस हिसाब से पुर के लिए अकर और सकर भूमि रखी जाती थी उससे दूने और तिगुने हिसाब से ग्रामों के लिए भी रखी जाती थीं।

पुर और ग्रामों की उद्वर्त जनता के लिए दूसरे पुर और दूसरे ग्राम बनाए जाते थे।

प्रत्येक आवर्त, प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक पुर, और ग्राम की व्यवस्था ऐसी होती थी कि आर्थिक रूप से वह किसी दूसरे के अधीन नहीं होता था, प्रत्येक स्थान की आवश्यकतानुसार सब प्रकार के विद्वान, सब प्रकार के शिल्पी, सब प्रकार के व्यवसायी वर्तमान रहते थे, प्रत्येक स्थान में व्यापार का यह नियम होता था कि उसका अतिप्रयोजन, विप्रयोजन और निष्प्रयोजन माल अर्थात् ऐसा माल कि जो प्रयोजन से अधिक हो, जिसका प्रयोजन न रहा हो, और जिसका कभी प्रयोजन हो न हो निकाल कर ऐसे स्थान में ले जाया जाय कि जहां उसका प्रयोजन हो; किन्तु कभी ऐसा व्यापार होने नहीं दिया जाता था कि जिससे वहां के अन्नादि आवश्यक पदार्थ झाड़ पोंछ कर बाहर ले जाए जायँ और वहां से निकम्मी चीजें लाकर घर में भर दी जायं; न किसी स्थान में ऐसा व्यापार होने दिया जाता था कि जिससे वह स्थान दूसरे स्थान के अधीन होने लगे।

व्यष्टिगत सुख-समृद्धि के लिए प्रत्येक स्थान आर्थिक रूप से स्वतन्त्र रखा जाता

था, किन्तु समष्टिगत सुख-समृद्धि के लिए सब स्थान दैशिक रूप से परस्पर परतन्त्र रखे जाते थे और वे सब एक परिष्कृतिरूपी सूत्र में गुथे रहते थे।

देश के विभक्त हुए अङ्गों को एक सूत्र में गूँथने के हमारे आचार्यों ने अनेक उपाय कहे हैं जिनमें से कुछ अधोलिखित हैं:—

(१) देश में एक सम्राट् का होना, सम्राट्पद का अन्वयागत न होकर गुणोत्कर्षानुसारी होना अर्थात् जिस राष्ट्र का शासक राष्ट्रवर्द्धक सिद्ध होकर देशवर्द्धक समझा जाय उसको राजसूय यज्ञ और रामराज्याभिषेक के योग्य समझा जाना। राष्ट्रवर्द्धन सिद्ध होने के लिए राजा में अधोलिखित गुण होने चाहिए:—प्रजानुराग और क्षत्रबल। इनमें से केवल एक के होने से कोई राजा राष्ट्रवर्द्धक नहीं समझा जाता था; अतएव शिशुपाल, जरासन्ध आदि राजसूय यज्ञ न कर सके।

(२) साम्राज्य में देश के समस्त महारथियों का, महापुरुषों का, दैशिकाचार्यों का, बड़े-बड़े विद्वानों का, कुछ न कुछ अर्थैक्य बना रहना।

(३) समस्त राष्ट्रों का सामराष्ट्र का अनुवर्ती होना अर्थात् जातीय और दैशिक विषयों में राष्ट्रपतियों की एक सभा होना और उसका अध्यक्ष सम्राट का होना।

(४) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासियों को समस्त देश में अपना ही समझा जाना और उन्होंने भी किसी एक स्थान में ममता न करके समस्त देश को अपना ही समझना।

(५) प्रत्येक राष्ट्र में एक जातीय तीर्थ होना उसमें किसी राष्ट्र का अधिकार न होना किन्तु उसमें समस्त देश का स्वत्व होना।

(६) कमसे कम एक बार सब लोगों को तीर्थाटन करना।

(७) परिव्राजकों द्वारा अपने देश में सदा भ्रमण करके जातीय भावों को बनाए रखना।

(८) किसी नियत पर्व पर किसी एक नियत तीर्थ स्थान में जातीय धर्ममीमांसा का होना और उसमें समस्त राष्ट्रों के आचार्यादि का सम्मिलित होना। इस प्रकार के बड़े पर्वों का आवर्तों में घूमते रहना, ऐसे पर्वों में अब केवल कुम्भी पर्व रह गया है।

(९) जातीय मन्त्र अथवा प्रार्थना का और जातीय संस्कारादिकों का एक संस्कृत भाषा में होना।

(१०) समस्त देश में एक ही प्रकार की व्यवस्था और एक ही प्रकार का आचार-व्यवहार होना। जातीय पर्वों और उत्सवों का सर्वत्र मनाया जाना।

जैसे भिन्न-भिन्न स्थान में भिन्न-भिन्न प्रकार के निमित्त होते हैं एवं भिन्न-भिन्न समय में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के निमित्त उपस्थित हो जाते हैं, ये निमित्त विना प्रयोजन के नहीं होते हैं; भगवती प्रकृति का कोई काम विना क्रम और विना प्रयोजन के नहीं होता है, जो बात सदा और सर्वत्र एक ही नियम से होती है उसको क्रम कहते हैं। किन्तु संसार में प्रतिदिन अनेक घटनाएं ऐसी भी होती हैं जिनमें क्रम नहीं मालूम पड़ता है, जैसे कि जिन कामों से किसी व्यक्ति अथवा जाति का उदय होता है कालान्तर में उन्हीं कामों से उस व्यक्ति अथवा उस जाति का अवपात होने लगता है; किन्तु वास्तव में यह अक्रमता आभास मात्र होती है; क्योंकि जब अनेक कारणों का संयोग होता है तब एक कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु जिन अनेक कारणों का संयोग एक बार हो जाता है बार-बार उन कारणों का संयोग नहीं होता है; क्योंकि पृथ्वी के आन्तरीक्षिक और खागोलिक स्थिति में सदा परिवर्तन होते रहने के कारण पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों के सन्निकर्षों में भी परिवर्तन होता रहता है, इन्हीं सन्निकर्ष-भेदों के कारण सन्निपात में भी भेद होता रहता है।

हमारे ज्योतिष शास्त्र के अनुसार आकाश अनन्त है, इसके भिन्न-भिन्न भागों में सत्वादि गुणों की मात्रा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, जिनके बीच में होकर पृथ्वी को जाना पड़ता है, पृथ्वी की यह गति आन्तरीक्षिक गति कही जाती है। इस अनन्त आकाश में अनन्त प्रकार के नक्षत्र, तारा, ग्रह भिन्न-भिन्न गति से घूमते रहते हैं जिनके बीच में होकर पृथ्वी को जाना पड़ता है, पृथ्वी की यह गति खागोलिक गति कही जाती है। इस गति के कारण पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है; यथा मङ्गल के उदय से पृथ्वी की ओर तेज की उष्ण धाराएं चलने लगती हैं जिनके कारण वाष्प घनीभूत होने नहीं पाता है, शुक्र के उदय होने से पृथ्वी शीतल होने लगती है; अतः वाष्प घनीभूत होकर बरसने लगता है; अब प्रश्न यह उठता है कि मङ्गल के उदय होने पर सदा सूखा क्यों नहीं पड़ता है और शुक्र के उदय होने पर सदा वर्षा क्यों नहीं होती है? समाधान इसका यह है कि भिन्न-भिन्न ग्रहों से निकलने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की धाराओं के मिलने से जो उदर्क धारा रहती है उसी के अनुसार सूखा अथवा वर्षा होती है; अतः मङ्गल के उदय से न सदा सूखा पड़ता है और न शुक्रोदय से सदा वर्षा होती है। पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गतियों में सदा परिवर्तन होते रहने के कारण उसके भिन्न-भिन्न भागों में भी सदा परिवर्तन होता है जिसके कारण वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के सन्निकर्ष होते रहते हैं; जहाँ जैसे सन्निकर्ष होते हैं वहाँ वैसे स्थावर-जङ्गमों की सृष्टि, वैसी उनकी अवस्था, वैसी वहाँ के मनुष्यों की बुद्धि, प्रकृति और चेष्टाएं हुआ करती हैं, और इन्हीं सन्निकर्षों के अनुसार वहाँ के धनधान्य और प्राणियों की

उत्पत्ति भी न्यूनाधिक हुआ करती है, इन्हीं सन्निकर्षों के कारण भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण उपस्थित हुआ करते हैं जिनसे पृथक् पृथक् प्रकार के कार्य हुआ करते हैं।

अब यह बात समझ में आ सकती है कि पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गतियों का और उनके प्रभाव का ज्ञान होने से भविष्य का बहुत-कुछ अनुमान पहिले से ही हो सकता है जिससे थोड़ा-बहुत अनागत विधान अर्थात् पहले से उपाय कर लिया जा सकता है, अतएव पूर्व काल में बड़े-बड़े मानमन्दिर, बड़ी-बड़ी वेधशालाएं स्थापित करना और गुणशास्त्र और ज्योतिष शास्त्र के अच्छे विद्वानों को रखना राज्य का धर्म समझा जाता था। इस प्रकार पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गति का ज्ञान पहले से हो जाने से अर्थायाम में बड़ी सहायता होती थी, आवश्यकता से अधिक होने वाले अर्थ की निकासी का और आवश्यकता से कम होने वाले अर्थ की पूरौती का उपाय पहले से सोच लिया जाता था।

अपरंच हमारे आचार्यों के मतानुसार काल और विभागानुसार चर्या-नियम-पूर्वक रहने से मनुष्य के मन, बुद्धि, शरीर ठीक रहते हैं जिससे स्वधर्म पालन करने में बड़ी सहायता मिलती है।

पूर्व काल में आचार्य लोग गुणशास्त्र और ज्योतिषशास्त्रों के बल से वर्षफल की सूचना बहुत पहले दे दिया करते थे। इस प्रथा का स्वाङ्ग नष्ट-भ्रष्ट रूप में अब तक हुआ करता है। प्रति सम्वत्सर प्रतिपदा को प्रत्येक घर में सम्वत्सर फल अर्थात् उस वर्ष में होने वाले ग्रहों की स्थिति का पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गतियों का और उन के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थावर-जङ्गमों की उत्पत्ति में न्यूनाधिक का और मनुष्यों की मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन सुनाया जाता है।

इति दैशिक शास्त्रे विराडध्याये देशकालविभागो नाम

पंचमाह्निकः।

दैवीसम्पद् योगक्षेमाध्यायः

प्रथम आह्निक

अधिजनन

राज्य और समाज को श्रेष्ठ बनाना, अर्थायाम करना, धर्मसङ्गत व्यवस्था को रचना करना, यथायोग्य देशकाल-विभाग करना आहारनिद्रामैथुन के लिये काम में लगे रहने वाले, भय से दबने वाले लोभ से चलने वाले, लोकायतिक लोगों का काम नहीं है, यह है श्रेष्ठ पुरुषरत्नों का काम। श्रेष्ठ कामों के लिए श्रेष्ठ पुरुषों की आवश्यकता होती है। श्रेष्ठता पुस्तकों को रटने से प्राप्त नहीं होती है, यह प्राप्त होती है दैवीसम्पद् से. यूनान में दैवीसम्पद् न होने से ही प्लेटो को अपनी रिपब्लिक अपने समय में असम्भव जान पड़ी, इसीके न होने से अरिस्टॉटल के दैशिक विचार कार्य में परिणत न हो सके; इसीके अभाव के कारण इङ्गलिस्तान को टोमस मू का 'यूटोपिया' (Utopia) असम्भव जान पड़ा, इसीकी न्यूनता के कारण यूरप में सोश्यालिज्म दोलाचल हो रहा है। आचार्य्य प्लेटो के मतानुसार श्रेष्ठ राज्य तभी हो सकता है जब राज्य का उत्तराधिकारी तत्त्वदर्शी हो, आचार्य्य अरस्तू के मतानुसार किसी समाज के श्रेष्ठ होने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें कुछ श्रेष्ठ मनुष्य हों, किन्तु हमारे आचार्य्यों के मतानुसार केवल राज्य के उत्तराधिकारी के तत्वदर्शी होने से न राज्य श्रेष्ठ हो सकता है और न इनेगिने मनुष्यों के श्रेष्ठ होने से समाज श्रेष्ठ हो सकता है। राज्य के श्रेष्ठ होने के लिए समस्त राजकुल और समस्त अधिकारियों का तत्त्वदर्शी होना और समाज के श्रेष्ठ होने के लिए समस्त लोगों का श्रेष्ठ होना आवश्यक होता है।

अब विचारास्पद बात यह है कि छोटा यूनान राज्य के एक उत्तराधिकारी और समाज के इनेगिने लोगों को जैसा नहीं बना सका, विशाल भारत समस्त राजकुल और समस्त प्रजा को वैसा कैसे बना सका ?

यूरोप को अब तक यह विदित न था और न अभी भी पूर्णतया विदित है कि तत्त्वदर्शी राजा और श्रेष्ठ लोग अर्थात् दैवीसम्पद्युक्त मनुष्य कैसे बनाए जा सकते हैं। उसके मतानुसार मनुष्यों को दैवीसम्पद्युक्त बनाने का एकमात्र मुख्य उपाय है उनको सुपठित बनाना। किन्तु हमारे आचार्य्यों के मतानुसार केवल पढ़ने-लिखने से कुछ नहीं होता, यह तो एक कलामात्र है। स्वाती की बूंद के समान जैसे पात्र से

इसका सङ्गम होता है वैसा इसका फल होता है, श्रेष्ठ पुरुष में जाने से यह कला अच्छे काम में लाई जाती है मध्यम पुरुष में जाने से फल भी इसका मध्यम होता है और नीच पुरुष के सङ्ग से इसका फल नीच होता है। स्वाध्याय से केवल पढ़ने के समय मनुष्य के मन में दैवीसम्पद् प्राप्त करने की इच्छा होती है; किन्तु इच्छा तभी फलीभूत होती है जब मानसिक और शारीरिक रचना अनुकूल हो, शास्त्रपाठ जिनका एकमात्र गुण होता है किन्तु जिनके शारीरिक और मानसिक संस्कार अनुकूल नहीं होते हैं उनकी श्रेष्ठ कार्यों को करने की चेष्टा विडम्बनामात्र होती है, तोता और मैनाओं से दैशिक और सामाजिक काम नहीं सध सकते हैं, इन कार्यों के लिए चाहिए बरपुरुष-रत्न जिनके संस्कार आजन्म और मरणपर्यन्त दैवीसम्पद्मय होते हैं।

हमारे आधिदैविक शास्त्रानुसार मनुष्य संस्कारमय होता है अर्थात् जैसे उसके संस्कार होते हैं वैसा वह आप होता है, इनसे वह लेशमात्र भी न्यूनाधिक नहीं होता है। संस्कार चार प्रकार के होते हैं:—

(१) जन्मान्तर, (२) सहज, (३) कृत्रिम और (४) अन्वयागत।

जन्मान्तर संस्कार उनको कहते हैं जिनको लेकर शरीरी एक शरीर को त्याग दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, इन्ही संस्कारों के अनुसार वह लोकान्तर में जाकर अपने कृत्यों का भोग करता है वहां उसके कर्मों का भोग हो चुकने पर वह फिर उन्हीं संस्कारों के अनुसार अमैथुनिक तन्मात्रिक शरीर को धारण करता है, तदनुसार अनुकूल निमित्त और सन्निकर्षों के मिलने पर वह किसी शरीरी के शरीर में प्रवेश करके बिन्दुमय शरीर धारण करता है जहां वह कुछ नवीन संस्कारों को प्राप्त करता है, तदनन्तर रज से उसका संयोग होने पर उसको कुछ और नवीन संस्कार प्राप्त होते हैं; इन्ही तीन संस्कारों को लेकर वह इस संसार में जन्म लेता है, और प्रतिक्षण नए नए संस्कारों को प्राप्त करता है, इन्हीं सब संस्कारों के अनुसार उसके मन, बुद्धि और कर्म हुआ करते हैं। इन सब संस्कारों में जन्मान्तर संस्कार प्रबल होते हैं जो अनेक जन्मों तक शरीर के साथ लगे रहते हैं इनका नाश अथवा परिवर्तन केवल निर्विकल्प समाधि के सिवा और किसी प्रकार नहीं हो सकता है। इन संस्कारों के विषय में पाश्चात्य बायालॉजिष्ट अभी पूर्ण अनभिज्ञ हैं।

सहज संस्कार उन संस्कारों को कहते हैं जो तन्मात्रिक शरीर को बिन्दवस्था और गर्भावस्था में प्राप्त होते हैं और उस पाञ्चभौतिक शरीर के छूटने तक रहते हैं। ये संस्कार अनेक रूपों में प्रकट होते हैं उनमें तीन रूप अर्थात् **योनिसंस्कार, जातिसंस्कार और वर्णसंस्कार मुख्य माने जाते हैं।**

जिन सहज संस्कारों में योनि की विशेषता रहती है उनको योनिसंस्कार कहते हैं
जिन सहज संस्कारों में जाति की विशेषता रहती है उनको जाति सं० कहते हैं।
जिन सहज संस्कारों में वर्ण की विशेषता रहती है उनको वर्ण सं० कहते हैं।

गोभी और लाई के बीज रूपरङ्ग में एक समान होते हैं, किन्तु जब वृक्षरूप में उनका रूपान्तर होने लगता है तब उनके सहजसंस्कारों के पृथक् पृथक् होने के कारण वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। मनुष्य और पशु के बिन्दु भी प्रायः एक समान होते हैं किन्तु जब गर्भावस्था में उनकी उत्तरवृद्धि होने लगती है तो सहज संस्कारों की भिन्नता के कारण वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। एक गमले में एक ही प्रकार की मिट्टी में भिन्न-भिन्न रङ्गों की सेवतियों के बीज एक साथ बोए जायँ और साथ ही उनको सिंचाई इत्यादि भी की जाय, पर उनके पौधे एक प्रकार के होते हुए भी सहज संस्कारों के भेद के कारण उनके फूल एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार दो मनुष्यों के दो बालक एक ही स्थान में एक ही सन्निकर्षों में रखे और पाले जायँ तो भी सयाने होने पर उनके सहज संस्कारों की भिन्नता के कारण उनमें भिन्न प्रकार के गुण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे और भी अनेक प्रकार के भेद देखे जाते हैं, उन सब के कारण सहज संस्कार ही होते हैं; ये संस्कार भी समाधि के अतिरिक्त और किसी प्रकार नष्ट अथवा परिवर्तित नहीं किये जा सकते।

कृत्रिम संस्कार उन संस्कारों के कहते हैं जो बाह्याभ्यन्तरिक सन्निकर्षों के अथवा दीर्घाभ्यास के कारण उत्पन्न होते हैं।

सन्निकर्षों से उत्पन्न हुए कृत्रिम संस्कारों को सन्निकर्ष संस्कार कहते हैं।

अभ्यास से उत्पन्न हुए कृत्रिम संस्कारों को अभ्यास संस्कार कहते हैं।

भिन्न-भिन्न गमलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी में भिन्न-भिन्न प्रकार से बोये हुए और भिन्न-भिन्न प्रकार की खाद और सिंचाई दिये हुए एक ही सेवती के बीजों से उत्पन्न हुए पौधों और उनके फूलों में जो भेद देखने में आता है अथवा एक ही मनुष्य के दो जुड़वा बालकों में भिन्न-भिन्न सन्निकर्षों में भिन्न प्रकार से रखे और पाले जाने से जो भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण प्रकट होते हैं, अथवा किसी मनुष्य में बराबर एक ही प्रकार की भावना दिये जाने से उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति में जो परिवर्तन हो जाता है, अथवा किसी वृक्ष को बार-बार एक ही प्रकार से कलम किये जाने से उसके पत्रादिकों में जो रूपान्तर होता है उन सब का कारण कृत्रिम संस्कार होता है। जिस कोटि के सन्निकर्ष और अभ्यास से ये संस्कार उत्पन्न होते हैं उसी कोटि के प्रतिकूल सन्निकर्ष और अभ्यास से वे नष्ट अथवा परिवर्तित किये जा सकते हैं।

पितृवंश और मातृवंश से जो संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं उनको अन्वयागत संस्कार कहते हैं।

जो संस्कार अन्वयागत होते हैं वे पूर्वजों के सहज संस्कार अथवा तीव्र कृत्रिम संस्कार होते हैं, पूर्वजों के जन्मान्तर संस्कार अन्वयागत नहीं होते हैं।

अन्वयागत संस्कारों के दाय नियम तीन हैं:—

(१) चोदह पीढ़ी तक पितृवंशी पूर्वजों के और पाँच पीढ़ी तक मातृवंशी पूर्वजों के निःशेष सहज और केवल तीव्र कृत्रिम संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं।

(२) दूरस्थ पूर्वजों की अपेक्षा अन्तिक पूर्वजों के संस्कारों का प्राधान्य रहता है।

(३) पितृवंशी पूर्वजों के शारीरिक संस्कारों का और मातृवंशी पूर्वजों के मानसिक संस्कारों का प्राधान्य रहता है।

किन्तु अपत्य के जन्मान्तर संस्कार और जन्मान्तर कृतोदय के कारण उसमें उसके पूर्वजों के संस्कारों का कभी तद्भाव, कभी अन्यीभाव, कभी आविर्भाव और कभी तिरोभाव होता है; अतः अपत्य में कभी पिता के संस्कारों का, कभी माता के संस्कारों का, कभी किसी पितृवंशी पूर्वज के संस्कारों का, कभी मातृवंशी पूर्वज के संस्कारों का, कभी अनेक पूर्वजों के संस्कारों के कुछ-कुछ संयोग का प्राधान्य रहता है, कभी उनके संस्कारों की केवल छायामात्र रहती है। दायरूप में पूर्वजों से प्राप्त हुए संस्कारों में अपत्य में केवल वही संस्कार व्यक्त रहते हैं जो उसके जन्मान्तर संस्कार और जन्मान्तर कृतोदय के अनुकूल होते हैं और जो उनके प्रतिकूल होते हैं वे अव्यक्त रहते हैं। इसी कारण अपत्य में पूर्वजों के संस्कार निपात नियम से प्राप्त हुए जैसे देखे जाते हैं।

जिन-जिन पूर्वजों के संस्कार अपत्य को दायरूप मे प्राप्त होते हैं उनकी पीढ़ियों के विषय में हमारे आचार्यों में कुछ मतभेद है, किन्तु मूल आधिजैविक सिद्धान्त में सबका मतैक्य है।

आधिजैविक शास्त्र के इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हमारे आधिजननिक शास्त्रों में अधोलिखित बातें मुख्य मानी गई हैं:—

(१) वंशमें परम्परागत संस्कारों का उच्च होना।
(२) दम्पतियों की जाति और वर्ण एक होना, किन्तु गोत्र और पिण्ड भिन्न होना।
(३) दम्पतियों के गुणों में साम्य।
(४) पिता का ब्रह्मचर्य्य और माता का पतिदेवत्व।
(५) सन्तानोत्पादन केवल पूर्ण यौवन में ही होना।
(६) गर्भाधान संस्कार।

(७) दोहदपूरण ।
(८) पुंसवन ।
(९) अनवलोभन । (१०) सीमन्तोन्नयन । (११) गर्भभृति । (१२) जातकर्म ।
(१३) शैशव संस्कार ।

(१) **उभयवंश के परम्परागत संस्कारों का उच्च होना**—यह पहले कहा जा चुका है कि चौदह पीढ़ी पितृवंशी और पाँच पीढ़ी मातृवंशी पूर्वजों के निःशेष सहज संस्कार और तीव्र कृत्रिम संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं; इसी आधार पर हमारे आधिजनिक शास्त्र का यह सिद्धान्त हो गया है कि श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न करने के लिए उभयवंश में परम्परागत संस्कार उच्च होने चाहिए ।

पाश्चात्य यूजिनिक्स के अनुसार भी अभीष्ट सन्तान उत्पन्न करने के लिए अभीष्ट दम्पत्ति चुने जाने चाहिए । पाश्चात्य बायालॉजिष्टों के मतानुसार प्रत्येक जीव में दो संस्कार होते हैं, एक वैरियेशन (Variation) और दूसरा मौडिफिकेशन (Modification); इन्हीं दो संस्कारों के संयोग से मनुष्य का स्वभाव बनता है ।

वैरियेशन उन संस्कारों को कहते हैं जो बिन्दु अर्थात् जर्मप्लाज्म (Germplasm) में वर्तमान रहने वाले संस्कारों के परिणाम होते हैं; उनकी सत्ता उस समय प्रकट होती है जब कि दो जीवों के सन्निकर्ष और निमित्त बिलकुल समान होने पर भी उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं; वैरियेशन के कारण ही उनमें गुण भेद होता है । जन्म धारण करने के पहले से ही जीव को वैरियेशन प्राप्त रहते हैं ।

मौडिफिकेशन उन संस्कारों को कहते हैं जो जीव के बाह्य सन्निकर्षजन्य संस्कारों के परिणाम होते हैं; उनकी सत्ता उस समय प्रकट होती है जब सन्निकर्ष भेदों के अनुसार जीवों की प्रवृत्ति में भी भेद होता है; मौडिफिकेशन के कारण ही एक प्रकार के जीवों में भिन्न प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं । मौडिफिकेशन जीव को जन्मधारण करने के पश्चात् प्राप्त होते हैं ।

सब पाश्चात्य बायालॉजिष्टों के मतानुसार प्रत्येक जीव को वैरियेशन उसके मातापिता से दायरूप में मिले रहते हैं; जर्मन बायालॉजिष्ट बीजमान के बड़े बड़े लेख एक प्रकार से इसी सिद्धान्त की व्याख्या हैं । कतिपय बायालॉजिष्टों के मतानुसार मौडिफिकेशन भी अपत्य को दायरूप में मिलते हैं, इस विषय में बायालॉजिष्टों के भिन्न-भिन्न मत हो रहे हैं, उन सब का मन्थन करके सार यह पाया जाता है कि मौडिफिकेशनों का अपत्य को दायरूप में मिलने के कुछ आनुमानिक प्रमाण पाये जाते हैं ।

पाश्चात्य बायालॉजी के मतानुसार वैरियेशन और मौडिफिकेशनों के अतिरिक्त तीन प्रकार के और भी संस्कार होते हैं, जो म्यूटेशन, रिवर्शन और रिकम्बिनेशन कहे जाते हैं ।

म्यूटेशन से जीव के सहजगुणों में कुछ परिवर्तन होता है।

रिवर्शन से अपत्य में किसी एक पूर्वज के संस्कार जो उसके मातापिता में प्रकट न थे, प्रकट हो जाते हैं।

रिकम्बिनेशन से अपत्य में उसके अनेक पूर्वजों के सहज गुणों का संयोग हो जाता है।

इन्ही तीन प्रकार के संस्कारों के कारण ही दम्पति की सन्तानों में सबका स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यह तो हुआ कार्य, किन्तु कारण उनका पाश्चात्य बायालॉजिष्टों को विदित नहीं हुआ। हमारे आचार्यों के मतानुसार उन सबके कारण हैं जन्मान्तर संस्कार और जन्मान्तर कृतोदय।

पाश्चात्य बायालॉजी के उक्त सिद्धान्त हमारे आचार्यों को बहुत पहले से विदित थे, इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार हमारी विवाह-पद्धति अब तक चली आती है।

अतः हमारे अधिजैविक शास्त्र और पाश्चात्य बायालॉजी दोनों के मतानुसार श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न करने के लिए ऐसे दम्पती चुने जाने चाहिए कि जिनके वंश में परम्परा से श्रेष्ठ संस्कार चले आते हों।

(२) दम्पतियों की जाति और वर्ण का एक होना किन्तु गोत्र और पिण्ड भिन्न होना—

यह पहले कहा जा चुका है कि जाति की विशेषता होती है चिति, और यह भी कहा गया है कि मातापिता के विशेष संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं; फलतः चिति संस्कार भी अपत्य को दायरूप में मिलने चाहिए; अतः भिन्न-भिन्न जाति के स्त्री-पुरुषों के मिथुन से जो अपत्य उत्पन्न होते हैं उनको दायरूप में पिता से एक चिति और माता से दूसरी चिति मिली रहती है, किन्तु हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार दो भिन्न चितियाँ एक साथ नहीं रह सकती हैं। एक चिति दूसरी चिति का नाश कर देती है यदि दोनों चितियाँ बराबर संवेग की होती हैं तो वे परस्पर लड़कर एक दूसरे को नष्ट कर देती हैं, यदि उनमें एक चिति अधिक संवेग की और दूसरी न्यून संवेग की होती है तो उनके परस्पर विप्रतिपत्ति में अधिक संवेगवाली चिति से न्यून संवेगवाली चिति के बराबर अंश कट जाता है। अथवा जब दो भिन्न चितियाँ समान कोटि की होने से लड़ती नहीं हैं तो उनके संयोग से एक तीसरी विकृत चिति उत्पन्न हो जाती है जिससे समाज में विजातीय और दुष्प्रवृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। दम्पतियों की जातियाँ भिन्न होना समाज के लिये उभयतः अनिष्टकारी होता है। पूर्वपक्ष में समाज में विराट्शून्य क्लीव मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उत्तर पक्ष में समाज में भ्रष्ट और दुष्प्रवृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इसी आधिजैविक नियमानुसार दो

भिन्न जाति के पशुओं से जो सङ्कर पैदा होते हैं वे बहुधा नपुंसक और दुःशील होते हैं। अतः एक चिति और एक विराट्युक्त सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पति की जाति एक होनी चाहिये।

इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्णविशेषतायुक्त सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पति का वर्ण भी एक ही होना चाहिये।

जाति और वर्ण की विशेषता बनाए रखने के लिये दम्पतियों की जाति और वर्ण एक होने चाहिए किन्तु सत्वशाली सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पतियों के पिण्ड और गोत्र भिन्न होने चाहिए। हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार सगोत्री और सपिण्डों के मैथुन होने से बिन्दु और रस सत्वहीन हो जाते हैं जिससे उन स्त्री-पुरुषों के सन्तान नहीं होते हैं और जो हुए भी तो वे निस्सत्व और निस्तेज हो जाते हैं।

पाश्चात्य बायालॉजिष्टों का भी अब यह मत हो रहा है कि (Breed in to fix type and breed out to secure vigour) अर्थात् सन्तान में विशेषता बनाए रखने के लिए उसके मातापिता में सादृश्य होना चाहिए और उसमें सत्व होने के लिए उसके मातापिता में भिन्नता होनी चाहिए अर्थात् विशेषतायुक्त सत्वशाली सन्तान उत्पन्न होने के लिए दम्पती ऐसे होने चाहिए जो न तो बिलकुल दूर हों और न अन्तिक बान्धव हों; अपरञ्च पाश्चात्य बायालॉजो के मतानुसार अत्यंत अन्तिक बान्धवों के मिथुन से जो सन्तानें उत्पन्न होती हैं वे बलहीन होती हैं और कुछ पीढ़ियों तक ऐसे बलहीन सगोत्रियों के मिथुन से सन्तान उत्पन्न होते रहने से कालान्तर में उनकी सन्तानों में वन्ध्या दोष उत्पन्न हो जाता है।

अतः हमारे आधिजैविकशास्त्र और पाश्चात्यों की बायालॉजो दोनों के सिद्धान्तानुसार तेजस्वी विराट्युक्त स्वधर्मपरायण सन्तान उत्पन्न करने के लिए दम्पतियों के जाति और वर्ण एक किन्तु पिण्ड और गोत्र भिन्न होने चाहिए।

(३) दम्पतियों के गुणों में साम्य—हमारे आधिजननिक शास्त्रानुसार भगवती प्रकृति ने भिन्न-भिन्न कार्य के लिए पुरुषों को एक प्रकार के गुणों में विशेषता दी है और स्त्रियों को दूसरों प्रकार के गुणों में विशेषता दी है: पुरुषों को उसने तेज, त्याग, तर्क, प्रतिभा, योगशक्ति और मानसिक सहिष्णुता आदि गुणों में विशेषता दी है, और स्त्रियों को उसने क्षमा, प्रेमभाव, धारणा, क्षमा, शक्ति और शारीरिक सहिष्णुता आदि गुणों में विशेषता दी है; अतः स्त्री के आदर्श गुण पुरुष के आदर्श गुणों के पूरक होते हैं न कि प्रतिरूप। स्त्री-पुरुषों के गुणों का एक दूसरे के पूरक होना साम्य कहा जाता है। जिन स्त्री-पुरुषों के गुणों में साम्य नहीं होता है अथवा जिन स्त्री-पुरुषों के विपरीत गुण होते हैं अर्थात् स्त्री में पुरुषों के गुण और पुरुष में स्त्री के गुण होते हैं उनकी सन्तानों में कुछ न कुछ विकृति रहती है। साम्यकरण विधि हमारे सामुद्रिक

शास्त्र का एक अङ्ग था, वर्तमान फलित ज्योतिष में जो साम्यकरण विधि है उसका वास्तविक आधार सामुद्रिक शास्त्र ही था।

पितृब्रह्मचर्य और मातृपतिदेवत्व—पहले यह कहा जा चुका है कि हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार शरीरी जब किसी शरीर में प्रवेश करके बिन्दुमय शरीर को धारण करता है तब उस अवस्था में वह कुछ संस्कारों को प्राप्त करता है, तदनन्तर गर्भ में जब रज से उसका संयोग होता है, वह कुछ और नवीन संस्कारों को प्राप्त करता है; बिन्दवस्था और गर्भावस्था में प्राप्त किये हुए इन संस्कारों के अनुसार ही जीव के मन, बुद्धि, कर्म और शरीर हुआ करते हैं, ये संस्कार बड़े प्रबल होते हैं और जीव के पाञ्चभौतिक शरीर के छूटने तक रहते हैं। समाधि को छोड़ और किसी प्रकार वे अन्यथा नहीं किये जा सकते हैं; जीव जैसे सन्निकर्षों में रहता है वैसे उसमें संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। इन दो सिद्धान्तों का संयोग करने से सिद्ध यह हुआ कि बिन्दवस्था में जीव को जैसा शुक्र मिलता है वैसे उसमें संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे योगशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्य्य से शुक्र में तेज उत्पन्न हो जाता है, ज्यों-ज्यों ब्रह्मचर्य्य में निष्ठा होती जाती है त्यों त्यों शुक्र में तेज की वृद्धि होती है, यहाँ तक कि अन्त में उसमें दाहकशक्ति उत्पन्न हो जाती है; ऐसे तेजोमय सन्निकर्षों में पले हुए बिन्दु में भी तदनुरूप तेजोमय संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः **हमारे धर्मशास्त्रानुसार तेजस्वी संतान उत्पन्न करने के लिए पिता का ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक समझा गया है।**

किन्तु तेजोमय बिन्दु को धारण करने के लिए रज भी वैसा ही श्रेष्ठ होना चाहिए, साधारण रज तेजोमय बिन्दु को धारण नहीं कर सकता है, प्रथम तो विषम बिन्दु और रज का संयोग होता ही नहीं और जो दैवात् ऐसा हुआ तो बिन्दु के तेज से रज गल जाता है, और जो कदाचित् ऐसा न हो तो थोड़े दिनों में गर्भपात हो जाता है, साधारण स्त्री तेजोमय गर्भ को धारण नहीं कर सकती जो कदाचित् गर्भ रह भी जाय तो बालक में एक प्रकार का गुणवैषम्य हो जाता है, उत्तम बिन्दुसंस्कार के कारण उसमें तेज और वीरता तो भरी रहती है; किन्तु साधारण रजःसंस्कार के कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि न होने से उसका विकास नहीं हो सकता। तेजोमय बिन्दु केवल स्त्री की सङ्कल्पशक्ति से धारण किया जा सकता है। जिस कोटि का बिन्दु में तेज होता है स्त्री में उसी कोटि की सङ्कल्प शक्ति होनी चाहिए। स्त्री में यह सङ्कल्प शक्ति आती है पतिदेवतात्व से, पति में अनन्यभाव से सन्निविष्ट हुई स्त्री के चित्त में महासङ्कल्पशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके बल से वह तेजोमय बिन्दु को अनायास धारण कर लेती है; इसी सङ्कल्पशक्ति के प्रताप से ही सती चिताग्नि को तुच्छ

समझती है, युगों के अखण्ड ब्रह्मचर्य से भगवान् पशुपति का शुक्र ऐसा तेजोमय हो गया था कि जिसको पृथ्वी, अग्नि, गङ्गा कोई भी धारण न कर सका, उसको धारण कर सकीं "ममात्र भावैकरसं मनःस्थितं, न कामवृत्तिवचनीयमीक्षते" कहने वाली केवल उमा। तारकासुर का वध केवल ऐसे उत्तम विन्दु और रज के संयोग से उत्पन्न हुए कुमार के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता था। बिना अस्खलित-वीर्य पिता और पतिदेवता माता से उत्पन्न हुआ कोई मनुष्य बड़ा काम नहीं कर सकता है, वैसे तो जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक राजा, मन्त्री, सेठ, साहूकार होते रहेंगे किन्तु साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश, धर्म की संस्थापना करने वाले वीर पुरुषरत्न तब ही उत्पन्न होंगे जब पुरुषों के ब्रह्मचर्य के साथ स्त्रियों के पतिदेवतात्व का सयोग होगा।

पाश्चात्य बायालॉजी के सिद्धान्तानुसार भी प्रत्येक जीव का अपने सन्निकर्षों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है अर्थात् जैसे जीव के सन्निकर्ष होते हैं वैसी उनकी मानसिक और शारीरिक रचना होती है और वैसे उसमें गुण उत्पन्न होते हैं। बायालॉजी का यही सिद्धान्त इम्ब्रियोलॉजी में विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहा गया है कि मनुष्य माता के गर्भ में आने से पहले पिता के शरीर में बिन्दुरूप में रहता है, उसके कुछ गुण और प्रवृत्ति बिन्दवस्था में और कुछ गर्भावस्था में ही बन जाते हैं, पीछे उनमें बहुत कम परिवर्तन होता है अर्थात् जीव जब बिन्दवस्था में विराजमान रहता है तब ही उसकी प्रवृत्ति बहुत कुछ बन जाती है, ज्यों-ज्यों वह गर्भरूप से शिशुरूप में, बालरूप से और मनुष्य रूप में बदलता जाता है त्यों-त्यों बिन्दवस्था में प्राप्त की हुई प्रवृत्ति का उसमें विकास होता जाता है; अतः पाश्चात्य बायालॉजी और इम्ब्रियोलॉजी से भी यही सिद्ध होता है कि जीव को जैसा शुक्र और गर्भ मिलता है वैसे उसमें गुण उत्पन्न होते हैं अर्थात् श्रेष्ठ जीव को उत्पन्न करने के लिए शुक्र और गर्भ भी श्रेष्ठ होने चाहिए।

अपरञ्च ब्रह्मचर्य से पुरुष में तीव्र श्रद्धा अर्थात् श्रेष्ठ गुणों की ओर तीव्र स्वरस-वाहिनी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, और पतिदेवत्व से स्त्री में तीव्र लज्जा अर्थात् नीच कर्मों से तीव्र स्वरसवाही संङ्कोच उत्पन्न होता है, और यह पहले कहा जा चुका है कि मातापिता के तीव्र संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं; अतः पिता के ब्रह्मचर्य और माता के पतिदेवत्व से अपत्य में श्रद्धा और लज्जा होती है। जिस समाज में श्रद्धा और लज्जा का जितना आधिक्य होता है वह समाज उतना ही श्रेष्ठ होता है और जिस समाज में उनकी जितनी न्यूनता होती है वह उतनी नीच होती है और उसमें सुख-शान्ति का उतना ही अभाव होता है। वास्तव में समाज की पालना श्रद्धा और लज्जा से ही होती है; अत एव देवताओं ने भगवती की स्तुति इस प्रकार की है—

"श्रद्धा सतां कुलजनवप्रभःवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवी विश्वम् "

अतः श्रेष्ठ कामों की ओर स्वतः प्रवृत्त होने वाले और नीच कामों से स्वतः सङ्कोच करने वाले पुरुषों को उत्पन्न करने के लिए भी पुरुषों के ब्रह्मचर्य से स्त्रियों के पतिदेवता का संयोग होना अत्यावश्यक समझा जाता है।

(४) सन्तानोत्पादन केवल पूर्ण यौवन में होना—हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार प्राणियों में तेज, इत्यादि गुणों का पूर्ण विकास केवल यौवन में होता है, उसके पहले वे गुण अपरिपक्क रहते हैं और उसके पीछे वे क्षीण होने लगते हैं; अतः पूर्ण यौवन के पूर्व और पश्चात् उत्पन्न हुई सन्तानों में तेज, त्यागादि गुणों की न्यूनता रहती है। हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार सन्तानोत्पादन के समय मातापिता के जैसे भाव, जैसे विचार होते हैं वैसे ही भाव, वैसे ही विचार उनकी सन्तानों में भी होते हैं। लेमार्क आदि पश्चिमी बायालॉजिष्टों का मत भी ठीक ऐसा ही है। अतएव हमारे धर्मशास्त्रानुसार यौवन के पहले कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था और न यौवन के चले जाने पर कोई गृहस्थाश्रम में रहने पाता था।

(५) गर्भाधान संस्कार—पहिले दो बातें कहीं जा चुकी हैं, एक यह कि मातापिता के तीव्र संस्कार अपत्य को दायरूप में प्राप्त होते हैं, दूसरी यह कि गर्भ में जैसे सन्निकर्ष होते हैं वैसी जीव की प्रवृत्ति बन जाती है। आधिजननिक शास्त्र में एक तीसरी बात भी कही हुई है कि रजस्वला होने के पश्चात् प्रायः एक पक्ष तक गर्भाधान हुआ करता है; इन तीन बातों को मिलाने से सिद्धान्त यह पाया जाता है कि रजस्वला होने के पश्चात् प्रायः एक पक्ष तक स्त्री के चित्त में जैसे संस्कार होते हैं, जैसे उसके आचारविचार और आहारविहार रहते हैं, जैसी उसके गर्भाशय की अवस्था होती है, वैसे गर्भस्थ जीव में गुण होते हैं। अतः हमारे आधिजननिक शास्त्र में ऋतुमती स्त्री के लिए विशेष प्रकार की चर्य्या, विशेष प्रकार की औषधियां और विशेष प्रकार का भोजन कहा गया है; तदनन्तर गर्भधारण के दिन से प्रसव होने तक गर्भवती स्त्री के लिए भिन्न-भिन्न मासों में, भिन्न-भिन्न विधि से, भिन्न-भिन्न प्रकार की ओषधियां और विशेष प्रकार का भोजन बताया गया है जिनका कुछ-कुछ उल्लेख हमारे वैद्यकशास्त्र और संस्कारविधि में पाया जाता है।

पाश्चात्य बायालॉजी का भी इन दिनों यह मत हो रहा है कि जीव की अधिकांश प्रवृत्ति उसके गर्भावस्था के रचनासम्बन्धी (mechanical), रससम्बन्धी (chemical), शरीरसम्बन्धी (physical) और सत्त्व सम्बन्धी (Vital) सन्निकर्षों के सन्निपात से बनी होती है। कई पाश्चात्य बायालॉजिष्टों का यह भी मत

है कि गर्भवती स्त्री की तीव्र वासना का गर्भस्थ जीव के चित्त में बड़ा प्रभाव पड़ता है। उनका यह सिद्धान्त हो रहा है कि मनुष्य का स्वभाव गर्भ के संस्कारों का विकास मात्र होता है, जीव की अनेक प्रवृत्तियां उनकी गर्भावस्था से ही बन जाती हैं, उस समय वे प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म संस्कार के रूप में रहती हैं, जीव के इन गर्भावस्था के संस्कारों का संयम करने से वह जैसा चाहिए वैसा बनाया जा सकता हैं। गर्भस्थ जीव के संस्कारों के संयम का एक मात्र उपाय है उसके सन्निकर्षों का संयम करना। इन बातों से सिद्ध यह होता है कि पाश्चात्य यूजिनिक्स से हमारे आधिजननिक शास्त्र के उक्त सिद्धान्तों की पुष्टि हो रही है।

(६) **दोहदपूरण**—हमारे आधिजननिक शास्त्रानुसार जब गर्भस्थ जीव का हृदय बनने लगता है तब उस समय जन्मान्तर के संस्कारों के अनुसार उस बनते हुए हृदय में कुछ इच्छा उत्पन्न होती है जिसका प्रतिबिम्ब गर्भवती स्त्री के हृदय में पड़ता है जिससे वह इच्छा गर्भवती स्त्री के हृदय में दोहद रूप से जाग उठती है। हमारे आधिजननिक शास्त्रानुसार यह इच्छा येन केन प्रकारेण पूरी होनी चाहिए, नहीं तो गर्भस्थ जीव के किसी न किसी अङ्ग अथवा नाड़ी में कुछ न कुछ विकृति आ जाती है, जिसके कारण पीछे जीव के स्वभाव में भी विकृति आ जाती है। सामुद्रिक शास्त्रानुसार अङ्ग और नाड़ियों का स्वभाव से अति घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

(१०) **पुंसवन, अनवलोभन, सीमन्तोन्नयन और गर्भभृति**—हमारे आधिजननिक शास्त्र के अनुसार गर्भप्रकट होने से पहले दूसरे अथवा तीसरे मास में पुंसवन, चौथे मास में अनवलोभन, छठे अथवा सातवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार, और सब महिनों में गर्भभृति कही गई है; इन भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कारविधियों से और गर्भभृति की औषधियों से गर्भस्थ जीव के सब प्रकार के सन्निकर्ष श्रेष्ठ बनाए जाते हैं जिनके कारण प्रसव सुन्दर, बलिष्ठ, रूपवान और दैवीसम्पद्युक्त होता है। प्रसव के दिन निकट आने पर सूतिकागृह भी विशेष प्रकार का बनाया जाता है जिसकी विधि आधिजननिक शास्त्र में दी हुई है।

(११) **जातकर्म**—हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार गर्भावस्था में शिशु नाल के द्वारा भोजन करता है और तीन-चार दिन तक उसके हृदय की धमनियां नहीं खुलती हैं; अतः नालच्छेद होने के पहले बालक को विशेष प्रकार की औषधि चटाई जानी चाहिए जिनमें से एक औषध ऐन्द्र ब्राह्म शङ्खपुष्पी और वच के कल्क को मधु, घृत और सुवर्ण में मिलाने से बनती है, उक्त औषध को चटाने के पश्चात् कुछ संस्कार विधि से नालच्छेद किया जाना चाहिए, फिर तीन-चार दिन तक बालक को विशेष प्रकार की औषधियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं खिलाया जाना चाहिए, इन औष-

धियों और संस्कारविधियों से बालक के हृदय और शरीर में कुछ ऐसे रासायनिक और अन्य प्रकार के परिणाम होते हैं कि जिससे बालक तेजस्वी, बुद्धिमान और नीरोग होता है। इस विषय में पाश्चात्य बायालॉजिष्टों का सिद्धान्त पहले कहा जा चुका है जिससे हमारे आधिजननिक शास्त्र के उक्त सिद्धान्त का समर्थन होता है।

इन उक्त उपायों से जो आजन्म शुद्ध शासक उत्पन्न होते थे वे भगवान् विष्णु के अवतार माने जाते थे। इन उपायों से बने हुए राजा और इन्हीं उपायों से बनी हुई प्रजा में परस्पर प्रेम और भरोसा रहता था, ऐसे राजा के राज्य में राजतन्त्रवादी और प्रजातन्त्रवादी दोनों का अर्थ सिद्ध हो जाता था। प्रत्यर्थी विषयों का संयोग करना हमारे दैशिकशास्त्र की विशेषता है, जैसे उसने वर्णाश्रमधर्म द्वारा अनेक विपरीतार्थी विषयों का मेल कर दिया था, वैसे ही उसने आधिजननिक शास्त्र द्वारा मौनार्की और निहिलिज्म का भी मेल कर दिया था।

इन दिनों पाश्चात्य देशों में यद्यपि शिक्षा का प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है, भिन्न-भिन्न विद्याओं की वृद्धि हो रही है, विविध कलाओं का आविष्कार हो रहा है; किन्तु मनुष्यों की प्रवृत्ति में कुछ भी उन्नति नहीं हो रही है। अतः यूरप और अमेरिका के कुछ वैज्ञानिक लोग ऐसे शास्त्र की खोज में लगे हुए हैं जिससे मनुष्य के सहजगुणों में उन्नति हो सके, जिसके प्रयोग से श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न किये जा सकें, फ्रेन्सिस गाल्टन नामक एक व्यक्ति ने ऐसे शास्त्र का सूत्रपात करने का कुछ यत्न भी किया है जो इन दिनों यूजिनिक्स के नाम से कहा जा रहा है। किन्तु पश्चिम में इस यूजिनिक्स रूपी शुक्र का प्रकाश होने से बहुत पहले हमारे यहाँ आधिजननिक शास्त्र रूपी सूर्य्य का उदय हो चुका था, जिसकी छाया इस आह्निक में दिङ्मात्र दर्शाई गई है।

इति दैशिकशास्त्रे दैवीसम्पद्योगक्षेमाध्याये
आधिजननिको नाम प्रथमाह्निकः।

द्वितीया अकाह्नि

अध्यापन

बालशिक्षा

उत्तम आधिजैविक संस्कारयुक्त अपत्य को पूर्णतया श्रेष्ठ बनाने के लिए वैसे ही उत्तम अध्यापनिक सन्निकर्ष भी मिलने चाहिए; अध्यापन (अधि+या+णिच्)

का अर्थ है उन्नति के मार्ग में ले जाना अर्थात् धर्म को समझने और पालन करने की शक्ति उत्पन्न करना, न कि पढ़ना-लिखना सिखाना। केवल पढ़ने-लिखने से किसी में धर्म पालन करने की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अंग्रेज पण्डित हक्सले के मतानुसार भी केवल पुस्तकों के पढ़ने से किसी की मूर्खता अथवा धूर्तता कम नहीं हो सकती है। हमारे आचार्य्यों के मतानुसार धर्म को समझने और पालन करने की शक्ति उत्पन्न होती है बाल्यावस्था से ही मन, बुद्धि और शरीर को विशेष प्रकार के ढांचे में ढालने की विधि हमारे अध्यापन शास्त्र में दी हुई है। इस शास्त्र के अनुसार शिक्षा के तीन भाग किए गए हैं:—

(१) बाल शिक्षा काल, (२) माध्यमिक शिक्षा काल और (३) सामावर्तिक शिक्षा काल।

बालशिक्षा काल के लिये अधोलिखित नियम कहे गए हैं:—

(१) सात्विक आहार, (२) अनामय, (३) औपक्रमिक ब्रह्मचर्य्य, (४) प्रेमाचरण, (५) क्रीडा, (६) बुद्धि उद्बोधन, (७) शीलोत्पादन, (८) आदर्श जनन, (९) औदार्य शिक्षा, (१०) गार्हस्थ्य और शिक्षा (११) स्वाध्याय।

सात्विक आहार—समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति और चेष्टा उनकी बुद्धि पर निर्भर होती है, बुद्धि होती है मस्तिष्क, हृदय और शरीर के अनुसार, ये होते हैं भोजन के अनुसार; भोजन सात्विक, राजसिक और तामसिक जैसा हुआ करता है वैसे ही मस्तिष्क, शरीर और हृदय हुआ करते हैं। अतः हमारे अध्यापन शास्त्र में गर्भावस्था से ही सात्विक आहार के लिए आग्रह किया गया है, सात्विक आहार में गाय का दूध और हविष्यान्न सबसे श्रेष्ठ समझा गया है।

अनामय—धर्मपालन के लिए शरीर ही मुख्य पदार्थ समझा जाता है। कहा भी है "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" अतः हमारे शास्त्रों में अनामय को बड़ा उत्कर्ष दिया गया है। अनामय के योगक्षेम के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं:—

(१) पथ्य भोजन, (२) व्यायाम और (३) ब्रह्मचर्य्य।

पथ्य भोजन उस भोजन को कहते हैं जो सात्विक हो, भोक्ता की पाचन शक्ति के अनुकूल हो, जिसमें विषम पदार्थों का संयोग न हो और जो देशकालनिमित्त के अनुकूल हो।

व्यायाम का मुख्य प्रयोजन है शरीर के करण, नाड़ी, धमनी, इत्यादिकों के कार्य्यों को ठीक तरह चलता रखना, मल-संचय होने के कारण उनको शिथिल न होने देना, और शरीर को सुन्दर, सुडौल और फुर्तीला बनाना। अतः हमारे अध्यापन शास्त्र में व्यायाम के निम्नलिखित नियम कहे गए हैं।

(अ) व्यायाम में किसी प्रकार का संक्षोभ नहीं होना चाहिए ।

(आ) वह शक्ति और भोजन के अनुकूल होना चाहिए ।

(इ) वह ऐसा हो जो अनिच्छा प्रकट होते ही छोड़ दिया जा सके । हमारे अध्यापनशास्त्रानुसार प्रातःकाल योगासन और नाड़ीशोधन करना और फिर वन विहार करना; सायङ्काल वनविहार के पश्चात् योगासन और नाड़ीशोधन करना उत्तम प्रकार का व्यायाम समझा गया है ।

औपक्रमिक ब्रह्मचर्य—हमारे आचार्यों के मतानुसार सब धर्मों का आधार है ब्रह्मचर्य; अतः उन्होंने जीवन का प्रथम तृतीयांश इसके लिए अलग रख दिया है । बालशिक्षा काल में ब्रह्मचर्य के सब नियमों को पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक के आहार, विहार, संस्कार और सन्निकर्ष ब्रह्मचर्य के अनुकूल हों, प्रतिकूल कारणों को उसके समीप नहीं आने देना चाहिए, ज्यों-ज्यों यौवन समीप आता जाता है त्यों-त्यों सावधानी और व्रतकाठिन्य भी बढ़ाते रहने चाहिए ।

प्रेमाचरण—गुरुजनों को बालकों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जिससे बालकों को उनके साथ बैठने में आनन्द प्राप्त हो, उनकी वाणी बालकों के कोमल चित्त में अङ्कित हो जाय, पाँच छह वर्ष तक ताड़ना का प्रयोग नहीं होना चाहिए । जब बालक कोई अच्छा काम करे तो उसका उत्साह बढ़ाना चाहिए ।

क्रीडा—शैशव में मनुष्य जिस प्रकार की क्रीड़ा करता है यौवन में उसका चरित्र भी उसी प्रकार का होता है । वस्तुतः शैशव के खेलों से यौवन के चरित्र का सूत्रपात हो जाता है । बालक के स्वभाव में भरे हुए क्रीड़ारसरूपी जल को बहने देने में श्रेय है न कि उसको रोकने में; नहर खोद कर उसके बहाव के लिए मार्ग बना देना चाहिए; बालक को इस प्रकार के खेलों में लगा देना चाहिए जिनमें किसी प्रकार का क्षोभ न हो, शरीर और बुद्धि की समृद्धि परस्पर तुल्यरूप से होती रहे अर्थात् शारीरिक बल और स्फूर्ति के साथ-साथ कल्पना शक्ति और सहृदयता का भी आविर्भाव होता रहे । छह वर्ष का बालक जैसी क्रीडा करे उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; किन्तु उसको राजसिक और तामसिक सन्निकर्षों से बचा रखना चाहिए ।

बुद्धि का उद्बोधन—जब बालक में कुछ समझ आने लगती है तब उसको खुले मनोहर स्थानों में ले जाकर पुष्प, पक्षी आदि दिखाकर उसकी निरीक्षण शक्ति बढ़ाते रहना चाहिए; तदनन्तर जीवजन्तुओं के, फिर मनुष्यों के चित्र दिखाकर और फिर किसी पुष्पादि को दिखाकर उसका विश्लेषणात्मक वर्णन सुनाकर बालक को निरीक्षण और अन्वीक्षण का अभ्यास कराना चाहिए । इसके पश्चात् लोम-विलोम रीति से

कार्य-कारण के सम्बन्ध में ध्यान देना सिखाना चाहिए। इस प्रकार बालक की तर्क शक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए।

शीलोत्पादन—किसी व्यष्टि और समष्टि का अभ्युदय और निःश्रेयस तभी होता है जब कि उसमें शील उदय होता है, शील के अन्तर्हित होते ही अभ्युदय और निःश्रेयस भी तिरोहित हो जाते हैं। शील कहते हैं प्रियाचार युक्त धर्मनिष्ठा को। हमारे अध्यापनशास्त्र में शीलोत्पादन का उपाय कहा गया है ऊर्ध्वप्रवृत्तिक आधारान्तरीकरण विधि द्वारा रागात्मक संस्कारों को क्षीण करना और दृढ़ीकरण विधि द्वारा द्वेषात्मक संस्कारों को नष्ट करना (ये विधियां 'बालशिक्षाशैली' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णन की गई हैं) अभ्यास द्वारा त्याग और पराक्रम के संस्कारों को उत्पन्न करना, आयुर्वेदोक्त विधि द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का योगक्षेम करना, शस्त्रास्त्र की शिक्षा द्वारा और स्वतन्त्र आजीविका के अनुशासन द्वारा अपने में भरोसा उत्पन्न करना। किन्तु इन दिनों शील का अर्थ और उसको उत्पादित करने के उपाय अन्यथा हो गये हैं; इन दिनों शील कहते हैं विनययुक्त औदासीन्य को और शीलोत्पादन का उपाय समझा गया हैं उपदेश सुनना और पुस्तकें पढ़ना।

आदर्शजनन—चित्त में जमे हुए आदर्श के अनुसार ही मनुष्य की समस्त चेष्टाएं हुआ करती हैं; अतः शैशव से ही स्वजातीय महापुरुषों के चित्र दिखाकर और उनकी कथा सुनाकर बालक का आदर्श उच्च बना देना चाहिए। उसके सामने किसी आसुरी सम्पद् आदि नीच गुणवाले मनुष्य की बड़ाई नहीं करनी चाहिए, चाहे वह कैसा ही धनवान् और प्रभावशाली क्यों न हो और बालक का साहचर्य ऐसे लोगों से न होने देना चाहिए जो आसुर आदि नीच संस्कारयुक्त हों और जो धन के मद में उन्मत्त हुए हों।

औदार्य शिक्षा—हमारे आध्यापनिक शास्त्र के अनुसार उदारता उत्पन्न करने का सबसे अच्छा उपाय है बालक के हृदय में चित्तप्रसादन के संस्कार डालना और उससे छोटी-मोटी बातों में आत्मत्याग का अनुशीलन कराना।

गार्हस्थ्य शिक्षा—प्रायः समस्त धर्मों का आधार है गृहस्थाश्रम। जब तक इस धर्म का यथार्थ रीति से पालन होता है तब तक सब धर्म स्थित रहते हैं, गृहस्थधर्मरूपी सूर्य के अन्तर्हित होते ही अन्यधर्मरूपी कमलों का सरासर सङ्कोच हो जाता है। अतः हमारे दैशिक आचार्यों ने गार्हस्थ्य शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया है, उनके मतानुसार बिना पौरुषत्याग और विवेक के गृहस्थाश्रम का ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता है, पौरुषादि गुण प्राप्त होते हैं अनुशीलन से न कि उपदेश से; अतः मनुष्य का लालन-पालन ऐसे ही सन्निकर्षों के बीच होना चाहिए, इन गुणों से युक्त महापुरुषों के रङ्गीन चित्र उसको दिखाते रहने चाहिए, उसके चित्त में रागद्वेष और भय

के संस्कार पड़ने नहीं देने चाहिए, पाँचवे अथवा छठे वर्ष से बालक को अपनी कुल-वृत्ति के काम में लगाकर उसके मूलतत्त्वों का व्यावहारिक ज्ञान करा देना चाहिए, कुछ सयाना हो जाने पर उसको कृषि और गोरक्षा की भी कुछ व्यावहारिक शिक्षा दे देनी चाहिए, चाहे सयाना होने पर उसको इनसे कुछ प्रयोजन न पड़े, बालक की प्रवृत्ति के अनुसार उसको एक-दो काम ऐसे सिखा देने चाहिए कि जो आपद्काल में उसको सहारा दे सकें, तेरहवें वर्ष से बालक को जातिसम्बन्धी और देशसम्बन्धी विषयों से परिचित कर देना चाहिए।

स्वाध्याय—उक्त शिक्षा के साथ-साथ बालक को जब उसमें कुछ धारणाशक्ति आ जाती है उसे अरुन्धती दर्शन, न्याय से लिखना-पढ़ना सिखाकर कोई ललित और मनोहर काव्य द्वारा उसके हृदय का विकास करना चाहिए, पृथक्-पृथक् प्रकार के गणित शास्त्र द्वारा उसकी बुद्धि तीव्र करनी चाहिए, चित्रकला द्वारा उसकी दृष्टि सूक्ष्म करनी चाहिए, प्राकृतिक विज्ञान द्वारा उसकी निरीक्षण और अन्वीक्षण शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए, भूगोल और इतिहास द्वारा उसके लौकिक ज्ञान की वृद्धि और लोकशिक्षा के द्वारा उसकी सङ्कीर्णता का नाश करना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा

इस प्रकार बालशिक्षा के पूर्ण हो जाने पर जब बालक की बुद्धि और शरीर ब्रह्मचर्य व्रत के योग्य हुए समझे जाते थे तो किसी सुमुहूर्त में उसका उपनयन किया जाता था, उस दिन बालक किसी श्रेष्ठ आचार्य के आश्रम में भेज दिया जाता था जहाँ वह मनसा, वाचा, कर्मणा अपने को आचार्य के चरणों में समर्पित कर देता था, आचार्य विद्यार्थी से ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेकर और बदले में आशीर्वाद देकर विद्यार्थी को अपने हृदय में स्थान देते थे और तब से उनमें गुरु-शिष्य का सम्बन्ध हो जाता था; उस दिन से माध्यमिक शिक्षा का प्रारम्भ होता था, तब विद्यार्थी के सन्निकर्ष बिल-कुल बदल दिए जाते थे, उस दिन से वह बटु कहा जाता था, उसको वस्त्राभूषण आदि भोगविलास के पदार्थों का त्याग करके चर्ममेखलासूत्र, दण्ड, कमण्डलु धारण करने पड़ते थे, मानापमान में समदृष्टि होने के लिए बटु को भिक्षा करनी पड़ती थी, भविष्य में होनेवाली अपनी धर्मपत्नी को छोड़ संसार की समस्त स्त्रियों में उसको मातृवत् भावना करनी पड़ती थी, भिक्षा माँगने के शब्दों में अपने वर्ण की सूचना भी दे देनी पड़ती थी, भिक्षा आहार से अधिक नहीं लेनी होती थी, वह भी अनेक घरों से न कि एक घर से; जो कुछ भिक्षा प्राप्त होती थी वह सब गुरूजी को अर्पण की जाती थी; वन में जाकर हवन के लिए कुश, समित् और इन्धन लाने पड़ते थे; रहने के लिए पर्णकुटी, सोने के लिए कुशशय्या, जलाने के लिए इंगुदी तेल काम में लाने पड़ते थे; बटु को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का व्रत धारण करना पड़ता था और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान

का अभ्यास करना पड़ता था; इन सार्वभौम महाव्रतों में स्थित हो जाना कोई साधारण बात नहीं है, इनको पालन करने के लिये संसार को रङ्गभूमि, जीवन-मरण को जवनिका का उत्थानावपात समझ लेना पड़ता है; किन्तु ऐसी भावना तभी हो सकती है जब किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है जो विषयसुख से अधिक आनन्ददायिनी होती है, समाधिसुख ही एक ऐसी वस्तु है जिसका लेशमात्र भी अनुभव होने पर विषयसुख तुच्छ जान पड़ता है और ज्यों-ज्यों समाधि में अभ्यास होता जाता है त्यों-त्यों यम-नियम में भी स्थिति दृढ़ होती जाती है; अतः माध्यमिक शिक्षाकाल में वटु को समाधि का अभ्यास करवाया जाता था जिससे वटु के चित्त से विषय-वासना हट जाती थी, अनेक प्रसुप्त नाड़ियां जागृत हो जाती थीं, बुद्धि और पौरुष का अभ्युदय हो जाता था और बुद्धि ऐसी तीव्र हो जाती थी कि कोई शास्त्र वटु को कठिन नहीं जान पड़ता था।

साथ ही इसके वटु को सम्पूर्ण मानवधर्मशास्त्रका अनुशीलन, अधिभावशास्त्र और अध्यभाव शास्त्र का अध्ययन, अध्यात्म शास्त्र का ज्ञान, समस्त लौकिक शास्त्रों का तत्त्व ज्ञान, निःशेष विद्याओं से परिचय अपने देशकाल का बोध, अपने वर्णधर्म में कौशल, और दैशिकशास्त्र में गति करवाई जाती थी।

ऐसी शिक्षा का स्थान ऐसा होता था जहां राजकुमारों से लेकर अकिञ्चन वटुओं तक सबकी दिनचर्य्या, आहार-विहार, रहन-सहन एक ही प्रकार का होता था, जहां छोटे-बड़ों में, धनी-निर्धनियों में भेदभाव नहीं होता था, जहां ऋषिमुनियों के शिवसङ्कल्प से समस्त स्थान सत्वमय हुआ रहता था, जहां सायंप्रातः वेदाध्ययन की सुन्दर ध्वनि, हवन की पवित्र गन्ध चित्त को प्रसन्न रखती थी, जहां मृग निःशङ्क, पक्षी निर्भय रहा करते थे, मल्लियां निर्भय होकर हाथ से चारा ले जाया करती थीं और दिनभर अतिथि-सत्कार हुआ करता था। संक्षेपतः जहां शान्ति, समता पवित्र आहार-विहार, शुद्ध आचार-विचार, श्रेष्ठ शिक्षा, उच्च आदर्श, रमणीय स्थान और मनोहर दृग्गोचर विराजमान रहते थे।

समावर्तिक शिक्षा

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के समाप्त हो जाने पर वटु की प्रवृत्त्यनुसार उसे एक दो ऐसे शास्त्रों में पूर्ण पाण्डित्य करवाया जाता था जिससे वह जातिहित के साथ-साथ स्वहित भी साधन कर सके। तदनन्तर कुछ दिनों के लिए वटु उन अपने शास्त्रों का पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए स्थानान्तर के आचार्य्यों के पास अध्ययन के लिए भेज दिया जाता था। इस प्रकार किसी शास्त्र में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए अनेक गुरुकुलों में आचार्य्यों के पास जाना नैष्ठिक तीर्थाटन कहा जाता है। नैष्ठिक तीर्थाटन से लौटकर वटु फिर कुछ दिन के लिए अपने गुरुकुल में रहकर

गुरुदेव की सेवा-शुश्रूषा किया करता था, तदनन्तर गुरु आशीर्वाद देकर उसको विधि-पूर्वक स्नान कराते थे, तब से बटु स्नातक कहा जाता था, तदनु वह सामर्थ्यानुसार गुरुदक्षिणा देकर गुरुदेव की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर अपने घर को लौटता था, कोई-कोई बटु अपनी इच्छा से गुरु की आज्ञा से जन्मपर्यन्त ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण कर लेते थे। ऐसे बटु नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहे जाते थे। बड़े घरानों में अब तक उपनयन के दिन माध्यमिक और समावर्तिक शिक्षाविधियों का स्वांग किया जाता है, एक ही दिन में दण्डधारण से समावर्तन तक सब पूर्ण हो जाता है। घर में जाने से पहले स्नातक को राजा के पास जाकर अपने स्नातक होने की सूचना दे देनी पड़ती थी क्योंकि राजा को स्नातकों की सूची रखनी पड़ती थी; क्योंकि जाति का भविष्य इन्हीं स्नातकों पर निर्भर होता था।

इस प्रकार की शिक्षा पाए हुए लोग जैसे हो सकते हैं और जैसा उनसे बना हुआ समाज हो सकता है यह भली भांति अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार की शिक्षा पाए हुए लोग गृहस्थाश्रम में कमलपत्र में जलबिन्दु के समान निःसङ्ग रहा करते थे, उनका मन योग और तपोवन में लगा रहता था, वार्धक्य का पदार्पण होते ही वे गृहस्थी को त्याग कर तपोवन में चले जाते थे; अतः समाज में किसी प्रकार के विषम संस्कार फैलने नहीं पाते थे। जर्मन कवि गेठे (Goethe) भी इसी प्रकार की शिक्षा को आदर्श शिक्षा समझते थे।

प्रजा को शिक्षा की उपेक्षा न करने देना, शिक्षा-सम्बन्धी कार्य्यों में उनकी सहायता करना, प्रत्येक स्थान में विद्वान् ब्राह्मणों का प्राचुर्य्य रखना, देशकालनिमित्तों को शिक्षा के अनुकूल रखना, स्थान-स्थान में शिक्षाश्रम और गुरुकुलों को रखना, स्नातकों और आचार्यों का योगक्षेम करना, सर्वतः उनके उत्साह को बढ़ाए रखना राजा का कर्तव्य समझा जाता था। जिस राजा के राज्य में उक्त अध्यापनशैलियों का प्रशस्त प्रचार होता था वह धर्मराट् कहा जाता था, और जिस राजा के राज्य में उक्त अध्यापनशैलियों की उपेक्षा होती थी वह धर्मच्युत समझा जाता था।

स्त्री-शिक्षा

समाज का मुख्य आधार है गृहस्थाश्रम, गृहस्थाश्रम रूपी धरित्रीमण्डल के स्त्री-पुरुष दो ध्रुव हैं, इन दो ध्रुवों की शक्तियों से जगत् की धारणा होती है, गृहस्थाश्रम के इन दो ध्रुवों की मानसिक और शारीरिक रचना में चाहे कुछ-कुछ सादृश्य हो किन्तु अनेक बातों में अन्तर भी बहुत है। इसी अन्तर के कारण उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषता हो गई है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है पुरुषों की विशेषता होती है तेज और त्याग में, स्त्रियों की विशेषता होती है क्षमा और प्रेम में, स्त्री-पुरुषों में उनके विशेष गुणों की समृद्धि करके पुरुषों को कर्मयोगी बनाना और स्त्रियों

को पतिदेवता बनाना अध्यापन का मुख्य अभिप्रेत समझा जाता है। अतः स्त्री-पुरुषों के लिए अध्यापन शैलियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होनी चाहिए; पुरुषों का अध्यापन होना चाहिए तेजोमय और त्यागमय सन्निकर्षों के बीच और स्त्रियों का अध्यापन होना चाहिए क्षमामय और प्रेममय सन्निकर्षों के बीच। भगवती अनसूया के अनुसार।

"एके धर्म एक व्रतनेमा। काय वचन मन पतिपदप्रेमा।"

अतः स्त्री-शिक्षासम्बन्धी इस सिद्धान्त के साथ मानव-हृदय की प्रवृत्ति का विचार करके यह मानना पड़ता है कि स्त्री-शिक्षा पाठशालाओं में नहीं हो सकती, स्त्री-शिक्षा के लिए पितृगृह को छोड़ और कोई स्थान उपयुक्त नहीं हो सकता। हमारे अध्यापन-शास्त्र के अनुसार स्त्रियों में क्षमा और प्रेम के संस्कार डालने के लिए देवार्चन, व्रतधारण, कथाश्रवण, गृहस्थकर्माभ्यास मुख्य उपाय हैं, इन उपायों से बालिकाओं में पति देवतात्व के संस्कार उत्पन्न होते हैं, पुराने बड़े घरों में स्त्रियों को अब तक ऐसी ही शिक्षा दी जाती है।

लोकमतपरिष्कार

हमारे दैशिकशास्त्रानुसार लोकमतपरिष्कार भी अध्यापनशास्त्र का एक अङ्ग समझा जाता था, क्योंकि जैसी लोकमत की हवा चलती है वैसे ही लोग उत्पन्न होते हैं, लोकमत के सामने बड़े-बड़े महात्माओं को भी मस्तक नवाना पड़ता है, भगवान् रामचन्द्रजी को भी "अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे" कह कर सीताजी का परित्याग करना पड़ा, इसी लोकमत और लोकापवाद ने सभी प्रकार भारत को लज्जावान बना दिया है, यही शोचनीय रूपान्तर हमारे पठित समाज में विशेषतर दिखाई दे रहा है, ये लोकमत और लोकवादरूपी शुम्भ और निशुम्भ हमारे पठित समाजरूपी ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुए हैं, निर्विराट् लोगों के मत और वाद को महत्व देने से बहुधा ऐसा ही शोचनीय परिणाम होता है; पुस्तकों का कीड़ा होने से किसी का मत और वाद मानार्ह नहीं हो सकता है। जब अनक्षर मूर्खों में पठित मूर्खों का डङ्का बजता है तो लोकमत और लोकवाद अत्यन्त नीच और भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः हमारे दैशिकशास्त्रानुसार लोकमत और लोकवाद का परिष्कार होना अत्यावश्यक समझा गया है, यह काम परिव्राजक और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को दिया गया है, उनके इस कार्य्य में सहयोग देना राजा और सेठों का काम है।

हमारी इस अध्यापन-शैली का अब लोप हो गया है। वर्तमान शिक्षाशैली से उसका किसी बात में सादृश्य नहीं है, सादृश्य इनमें केवल इस बात का है कि वे दोनों शैलियां अद्वितीय हैं। इन दोनों शैलियों के समान अध्यापन शैली संसार में कहीं भी नहीं है, भेद इनमें और उनमें यह है कि हमारी प्राचीन शिक्षाशैली का अनेक

जातियों ने अनुकरण करना चाहा किन्तु वे ऐसा कर न सके और अर्वाचीन शैली का अनुकरण अनेक जातियाँ कर सकती हैं किन्तु वे ऐसा करना नहीं चाहतीं।

इति दैशिकशास्त्रे देवीसम्पद्‌योगक्षेमाध्याये
आध्यापनिको नाम द्वितीयाह्निकः।

तृतीय आह्निक

अधिलवन

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में यह कहा गया है कि जाति सहज, सजीव और सावयव पदार्थ है, अन्य सजीव पदार्थों के समान विशेषतः बड़े उद्भिज्जों के समान जाति भी प्राकृतिक रीति से उत्पन्न होती है, उन्हीं के समान इसकी भी शाखाएँ पत्र, फूल और फल होते हैं, भगवती प्रकृति किसी कार्य्यविशेष के लिए एक जाति को उत्पन्न करती है और जब वह कार्य्य पूरा हो जाता है तो वह जाति प्राकृतिक रीति से अपने कारण में लय हो जाती है। वनस्पतियों के समान जातियों का भी वृद्धिकाल और क्षयकाल होता है, इन दो कालों में जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव और चेष्टाएं होती हैं, इन भावों और चेष्टाओं से जातियों के उदयावपात का अनुमान बहुत पहले हो जाता है। क्षय काल में प्रत्येक जाति की चिति अन्तर्लीन और विराट् खण्डित हो जाता है, जिससे उनकी अनेक शाखाएँ निःसत्व हो जाती हैं, अनेक सड़ने लगती हैं और अनेकों में वृक्षादन उत्पन्न होने लगते हैं जो वृक्ष के रस और सार को खींच लेते हैं, होनहार शाखाएं नीरस और निःसत्व होकर सूखने लगती हैं, दुष्ट शाखाओं से सर्वत्र दोष का सञ्चार होने लगता है, कालान्तर में वृक्ष दूषित होकर सूखने लगता है। किन्तु यदि समय पर वृक्षादन और दुष्ट शाखाएं चुनचुन कर अलग कर दी जाँय तो जातिरूपी वृक्ष में विराट्‌रूपी प्राण का पुनः प्रादुर्भाव होने लगता है, वृक्ष सूखने नहीं पाता और पहले के समान हराभरा हो जाता है, इस प्रकार जातिरूपी वृक्ष में अनभीष्ट अंश को उत्पन्न न होने देकर और उत्पन्न हुए अनभीष्ट अंश को निकालकर उसको अवपात से बचाए रखना हमारे दैशिकशास्त्र में जातीय लवन कहा जाता है। जातीयलवन के बिना कोई जाति बहुत दिनों तक हरीभरी नहीं रह सकती है, शीघ्र ही उसका क्षयकाल उपस्थित हो जाता है; अतः जातीयलवन आधिदैविक धर्म कहा जाता है।

हमारे दैशिकशास्त्र में जातीयलवन के अनेक अङ्ग हैं, उनमें तीन अङ्ग मुख्य माने गए हैं:—

(१) बालब्रह्मचर्य्य, (२) वानप्रस्थ प्रथा, और (३) युद्ध ।

बालब्रह्मचर्य्य—जैसे चतुर किसान अथवा प्राचीन माली किसी पौधे अथवा वृक्ष की सूरत से, उसकी चेष्टा से, उस के संसर्गों और सान्निध्यों से उसके बीज का अनुमान कर लेते हैं, जैसे निपुण ग्वाले बैल के शरीर और चमड़े को देखकर जान लेते हैं कि उस बैल से कैसे बछड़े उत्पन्न होंगे, ऐसे ही प्राचीन काल में कुछ लोग मनुष्य के अङ्ग और चेष्टादि को देखकर उसकी सन्तानों के विषय में बहुत-कुछ अनुमान कर लेते थे। हमारे देश में सामुद्रिक शास्त्र नामक एक ऐसी विद्या थी जिससे मनुष्य के अङ्ग चेष्टादिकों को देखकर उसकी सन्तानों के विषय में बहुत कुछ अनुमान कर लिया जाता था। इस शास्त्र के अनुसार जिस मनुष्य की सन्तानों को अनभीष्ट होने का अनुमान होता था उसको गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने नहीं दिया जाता था, उसको जन्मपर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करना पड़ता था; अतः बिना गुरु की आज्ञा के कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने नहीं पाता था। जर्मन आचार्य्य निज्शे के मतानुसार भी बिना पादरी व डाक्टर की आज्ञा के किसी मनुष्य का विवाह नहीं होना चाहिए, विवाह केवल उसी का होना चाहिए जो आत्मिक तथा शारीरिक रूप से योग्य हो, आत्मिक तथा शारीरिक रूप से अयोग्य मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति को रोकने के लिए कानून बनाए जाने चाहिए। अमेरिका के कैलिफोर्निया आदि अनेक प्रान्तों में ऐसे कानून बनाए भी जा रहे हैं। पाश्चात्य आचार्य्य जिस काम को कानूनों का त्रास फैलाकर, अयोग्य मनुष्यों को दण्ड, घृणा और हास्य का पात्र बनाकर करना चाहते हैं उसी काम को हमारे आचार्य्यों ने बाल-ब्रह्मचर्य्यप्रथा से, ब्रह्मचारी को त्याग का रसास्वादन कराके, उसको अद्वितीय गौरव का पात्र बना के किया। पाश्चात्यों को कानूनों से त्रास फैलाने के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं; कानून बनाने से एक ओर चाहे अनभीष्ट सन्तानों की उत्पत्ति रुक जाय; परन्तु दूसरी ओर गृहस्थी में प्रवेश करने से रोके हुए मनुष्य विषण्ण, कामोद्विग्न, प्रच्छन्नचारी अवश्यमेव होंगे; किन्तु ब्रह्मचर्य्य प्रथा से एक ओर अन-भीष्ट सन्तानों की उत्पत्ति रुक जाती है और दूसरी ओर प्रसन्नचित्त, जितेन्द्रिय, बालब्रह्मचारी समाज की शोभा को बढ़ाते हैं।

जातीयजीवन के लिए केवल बालब्रह्मचर्य्य ही पर्याप्त नहीं होता है क्योंकि हमारे आधिजैविक शास्त्रानुसार यौवन के पीछे उत्पन्न की गयी सन्तान भी समाज के लिए अनभीष्ट होती है चाहे वह मनुष्य की हो अथवा तिर्य्यग्जाति की या उद्भिज की; अतः माली लोग पुराने वृक्ष का बीज नहीं रखते हैं और ग्वाले बूढ़े सांड़ों को गायों के साथ नहीं रहने देते हैं। इसी आधिजैविक सिद्धान्तानुसार हमारे धर्म-शास्त्रानुसार कोई मनुष्य वार्धक्य के आने पर गृहस्थाश्रम में रहने नहीं पाता था, उसको वानप्रस्थ ग्रहण कर लेना पड़ता था; इस प्रथा से न केवल अनभीष्ट सन्तानों की उत्पत्ति ही रुकती थी;

किन्त समाज में आसुरी भाव भी आने नहीं पाता था, क्योंकि गृहस्थ में बहुत आसक्ति होने से मनुष्य तृष्णा के जाल में बँध जाता है, तृष्णा से उसमें लोभ, क्रोधादिक उत्पन्न हो जाते हैं, लोभक्रोधादि से मनुष्य में आसुरी आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं; किन्तु जब मनुष्य पहले से यह समझे रहता है कि मुझे गृहस्थ में थोड़े दिनों रहना है, वार्धक्य के पदार्पण करते ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना है तब गृहस्थी में उसकी आसक्ति नहीं होने पाती। उसके भाव, विचार, आदर्श सदा ऊँचे रहते हैं; भगवान् मनु के अनुसार वार्धक्य के चिह्नों के दृष्टिगोचर होने पर मनुष्य

"अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेत जितेन्द्रियः॥

और फिर वही अजिन, वही दण्ड, वही मेखला, वही

"विरोधि सत्वोज्झित पूर्व मत्सरम्
द्रुमैरभीष्ट प्रसवार्चितातिथि।
नवोढजाभ्यन्तर सम्भृतानलम्।"

वानप्रस्थप्रथा से भी पूर्ण जातीयलवन नहीं हो सकता है; क्योंकि बहुधा यह देखा जाता है कि कुछ समय बाद प्रत्येक उद्भिज्ज की प्राणशक्ति अन्तर्लीन होने लगती है, उसमें गुणहीन प्रसव उत्पन्न होने लगते हैं, उनकी शाखाएँ स्वयं अथवा संसर्ग-दोष से सड़ने लगती हैं, उनमें प्रतिरोध की शक्ति नहीं रहती; किन्तु कलम किए जाने पर उनमें फिर प्राणसञ्चार होने लगता है, फिर वैसे ही सुन्दर प्रसव दिखाई देने लगते हैं, फिर वैसी ही प्रतिरोध-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह नियम केवल उद्भिज्जों के लिए ही नहीं है किन्तु प्रत्येक आधिजैविक सृष्टि के लिए सनातन नियम है; यह पहिले कहा जा चुका है कि जाति भी आधिजैविक सृष्टि है; अतः जातियों में भी कुछ समय बाद विराट् अन्तर्लीन होने लगता है, उनमें गुणहीन मनुष्य उत्पन्न होने लगते हैं, स्वयं अथवा संसर्ग दोष से उनके अनेक कुलों का अवपात होने लगता है, उनमें प्रतिरोध-शक्ति नहीं रहती है; किन्तु लवन किए जाने के पश्चात् जातियों में फिर विराट् का उदय होने लगता है, उनमें फिर वैसे ही वीर सन्तानें उत्पन्न होने लगती हैं, फिर वैसी ही प्रतिरोधशक्ति का आविर्भाव होने लगता है; कलम किए जाने के पहले और पीछे किसी वृक्ष को अथवा वनाग्नि लगने के पूर्व और पश्चात् वन को देखने से उक्त आधिजैविक सिद्धान्त भली भांति समझ में आ सकता है।

अतः हमारे दैशिकाचार्य्यों ने युद्ध को रोककर शान्तिस्थापना की चेष्टा कभी नहीं की, वरन् युद्ध को जातीय लवन के काम में लाकर उससे आधिजैविक लाभ

उठाया, अर्थात् युद्ध के द्वारा उन्होंने जातिरूपी वृक्ष से अनभीष्ट अंश को उड़ाकर विराट् को अन्तर्हित नहीं होने दिया। इस प्रकार काम में लाया हुआ युद्ध हमारे दैशिकशास्त्र में आधिदैविक युद्ध कहा जाता है; हमारे आचार्य्यों के मतानुसार प्रत्येक जाति के लिए ऐसा युद्ध परम उपयोगी होता है, विशेषतः उस जाति के लिए जिसका विराट् खण्डित होने लगता है; अतः युद्ध को रोकने का कभी यत्न नहीं करना चाहिए, मनुष्यों के रोके युद्ध कभी रुक नहीं सकता, जातियों में युद्ध होना भगवती प्रकृति का सनातन नियम है इस प्राकृतिक नियम को बदलकर अखण्ड शान्ति बनाए रखने की चेष्टा करना छद्म अथवा मूर्खता है; संसार में जितनी अशान्ति छद्म और कूटनीति से होती है उसकी शतांश भी युद्ध से नहीं होती है, युद्धजनित अशांति विद्युत्पात के समान क्षणभङ्गुर और एकदेशीय होती है उसके पीछे परमहितकारी विराडुदयरूपी पर्जन्य बरसने लगता है; किन्तु कूटनीतिःजनित अशान्ति अवर्षण के समान चिरस्थायिनी और सर्वव्यापिनी होती है उसके पीछे महाअनर्थकारी दुर्भिक्ष उपस्थित होता है।

पाश्चात्य दैशिकाचार्य्यों ने युद्ध को रोकने की चेष्टा की और इसलिए हेग कॉन्फ्रेंस स्थापित की गई किन्तु परिणाम इसका यह हुआ कि अंग्रेजों ने बोरों से युद्ध छेड़ दिया, चीन में पाश्चात्य शान्तिवादियों की तोपें गरजने लगीं, रूस और जापान के बीच तलवारें खिच आईं, दलाईलामा के मठ पर अंग्रेजों की मशीनगन बरसने लगी, ट्रिपली तुर्कों से छीनी गई, बालकन रियासतें सलतनत-ए-उशमान को नोचने लगीं; फिर अमेरिका ने भी जगद्व्यापिनी शान्तिस्थापना का बीड़ा उठा कर आर्बिट्रेशन कोर्ट (पंचायती अदालत) स्थापित करनी चाही; किन्तु फल यह हुआ कि अमेरिका और मैक्सिको के बीच मारूवाजा बजने लगा; तदनन्तर इङ्गलैण्ड के सप्तम एडवर्ड ने भी संसार से युद्ध-प्रथा उठा देनी चाही; किन्तु परिणाम में यह महासमर हुआ जिसने प्रायः समस्त देशों को उलझा दिया है और सर्वत्र अशान्ति फैला दी है; यह बात किसी से छिपी नहीं है कि पाश्चात्य शान्तिवाद ने भगवती कमला के अनेक प्रमोद-काननों को उजाड़ दिया है, अनेक जातियों की परिष्कृति का लोप कर दिया है, अनेक सिंहासनों को शून्य कर दिया है, अनेक देशों के कलाकौशलों को नष्ट कर दिया है और अनेक जातियों का मूलच्छेद कर दिया है। अतः सिद्ध होता है कि युद्ध-प्रथा बन्द नहीं हो सकती है; युद्ध-प्रथा को उठाकर जगद्-व्यापिनी शान्ति का बीड़ा उठाना बिडम्बना मात्र है। अतएव हमारे आचार्य्यों ने युद्ध-प्रथा को उठा देने की चेष्टा तो नहीं की; किन्तु युद्ध की योजना धर्म में कर दी अर्थात् युद्ध जातीयलवन के काम में लाया गया, उसके द्वारा दुष्टों का नाश और साधुओं का परित्राण किया गया, ऐसे युद्ध के लिए जाति का चतुर्थांश

अलग रख दिया गया। हमारे धर्मशास्त्र में ऐसा युद्ध धर्मयुद्ध कहा जाता है, इसी युद्ध के लिए गीता में कहा गया है कि

"धर्म्याद्ध युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते"

किन्तु सभी युद्ध धर्मयुद्ध नहीं होते अर्थात् सभी युद्धों से जातियों का लवन दुष्टों का नाश और साधुओं का परित्राण नहीं होता। जैसे बुरी तरह से कलम किया गया वृक्ष बिलकुल कलम न किए गए वृक्ष से भी अधिक नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है; अतः अच्छी तरह वृक्षों की कलम करने के लिए चतुर माली की आवश्यकता होती है जो भली भांति यह जानता है कि वृक्ष की किन शाखाओं को, किन भूलों को कलम करना चाहिए; इसी तरह बुरी तरह युद्ध में लड़ी हुई जाति बिलकुल न लड़ी हुई जाति से भी अधिक नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। प्राचीन काल में हमारे भारत में धनुर्वेदादि अनेक ऐसे शास्त्र थे जिनमें यह बताया हुआ था कि किस युद्ध में किन मनुष्यों को किस प्रकार लड़ाना चाहिए। जिन्होंने महाभारत पढ़ा है उनको विदित हो सकता है कि उस समय भारत में जातीय लवन की बड़ी आवश्यकता थी, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध के पक्ष में थे किन्तु उस समय उन्होंने युद्ध को टालने की बड़ी चेष्टा की, क्योंकि उस समय निमित्त कुछ ऐसे हो गए थे कि जिनके कारण अधिलवन शास्त्र का अनुसरण हो नहीं सकता था, और हुआ भी ऐसा ही; फल इसका यह हुआ कि महाभारत के पश्चात् हमारी जाति में विराट् खण्डित होने लगा, लोगों में स्वार्थ की वृद्धि होने लगी, वृष्णियों में औद्धत्य आ गया, किसीमें उनका दमन करने की शक्ति न रही, समस्त जाति में वृष्णियों के दोषों का सञ्चार होने लगा, सर्वत्र जातीय अवपात के चिह्न दिखाई देने लगे; भगवान् द्वारिकाधीश से यह बात सहन न हो सकी, अतः उन्होंने अपनी जाति की रक्षा के लिए अपने वृष्णियों को परस्पर युद्ध में कटवाकर उनका लोप कर दिया, उस समय तो जाति अवपात से बच गई, किन्तु फिर थोड़े दिनों में कलि उपस्थित हो गया, धर्म अङ्गहीन हो गया, पृथ्वी को दुःख होने लगा, यद्यपि परीक्षित ने कुछ काल के लिए कलि का प्रभाव रोक दिया तथापि उसको सुवर्ण में रहने की आज्ञा मिल गई, अन्त में सुवर्ण दोष से ही राजा परीक्षित की भी मति भ्रष्ट हो गई। परीक्षित के पीछे जनमेजय के राज्य में दोषी छोड़े जाने लगे, उनके बदले दण्ड निर्दोषों को मिलने लगा, शास्त्रों की विस्मृति होने लगी, उनके पूर्ण ज्ञाता बहुत कम रह गए. दिग्विजय की प्रथा उठ गई, जातीय लवन होना बन्द हो गया, जातिरूपी वृक्ष में वृक्षादन भर गए, होनहार शाखाएँ नीरस होकर सूखने लगीं और विराट् अन्तर्लीन हो गया। अतएव हमारे दैशिकशास्त्र में अधिलवन शास्त्र को बड़ा महत्त्व दिया है, जबसे इस शास्त्र की उपेक्षा होने लगी तभी से हमारी जाति का विराट् खण्डित होने लगा, जिस जाति का विराट् खण्डित हो जाता है उसके लिए

अधिलवनिक युद्ध के समान हितकर कोई काम नहीं हो सकता है, इसी युद्ध में लगने वालों के लिए कहा गया है।

अब हमारे इस अधिलवन शास्त्र का कोई नाम भी नहीं जानता है, यदि कोई नाम जानता भी होता तो क्या, जैसा निरादर हमारा और शास्त्रों का हो रहा है वैसा ही इसका भी होता, वास्तव में जिस जाति का विराट् रूपी चन्द्रमा अस्त हो जाता है। उसके सब शास्त्र फीके पड़ जाते हैं, किसी को वे अच्छे नहीं लगते हैं; ठीक कहा है—

"अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वतीयं
दृष्टि न नन्दयति संस्मरणीवशोभा।"

इति दैशिकशास्त्रे दैवीसम्पद्योगक्षेमाध्याये
अधिलवनिको नाम तृतीयाह्निकः।

इति प्रथम खण्डः

दिशा-बोध

भारतवर्ष संसार में किस उपलब्धि के लिये उत्सुक है ? किसके लिये समस्त भारतवासी चेष्टा कर रहे हैं ? सब देशवासियों का लक्ष्य क्या है ? हमारे संविधा का क्या प्रयोजन है ? "हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्" वा भारत में ऐसी अखण्ड शान्ति क्यों विराजमान है। हमारा संविधान, विधान त हमारा प्रजातान्त्रिक शासन-तन्त्र क्या उपलब्ध करना चाहता है ? हमारे प्रजात का क्या लक्ष्य है ? इन सबका केवल एकमात्र उत्तर है जनमानस का सुख ता राष्ट्र सुखी हो और तदनुसार विश्व सुखी हो।

सुख के साधन—उक्त सुख को प्राप्त करने के लिये मनुष्य जो कुछ कर रह सुकृत अथवा दुष्कृत—यह श्रम सुखप्राप्ति के लिये ही हो रहा है। कोई विषयभं को सुख माने हुए कामादि रिपुओं का खिलौना बना हुआ है तो कोई विषय भं को क्षणभंगुर जान स्वर्गप्राप्ति के निमित्त यम-नियमों का पालन कर रहा है। माई के लाल देशभक्ति के रंग में रंगे हुए अपना सर्वस्व खो बैठे हुए हैं। सो क सुख के लिये। कोई अत्यधिक धन की धुन में देशघात करने को तैयार है। सो व पैशाचिक सुख के लिये। बड़े-बड़े भयंकर राज्य-विप्लव इसी के लिये होते हैं, व से कठिन शान्तिरक्षा के उपाय भी इसी से बचने के लिये किये जाते हैं।

सांसारिक सुख-दुःखों का व्यक्तिगत होना कम देखा गया है, बहुधा जा अथवा देशगत देखा गया है।

सुख क्यों और कैसा ?—विद्यावारिधि का विद्याविलास तभी तक है ज पेट में कुशल है तथा सिर ढका है। जब तक परिवार में अन्न-वस्त्र का सुख अन्य सुख मौन हैं। चाहे दिव्य भोजन न हो, चाहे मखमल या कश्मीरा न हो, मोटा अन्न और मोटा वस्त्र तो चाहिये ही, परन्तु आज अध्यात्मदाता, वीर धनंजया, श्रमशीला भारतभूमि की शोचनीय दशा क्यों हो रही है ? क्यों आज मती, वसुमती भारत जननी में सुख देवता रूठे हुए हैं ? क्यों पापी पेट 'सुजलां शस्यश्यामलां' भारतभूमि के सन्तानों के होश उड़ाये हुए हैं ? क्योंकर इ प्रधान देश में अन्न का घाटा हो चला है ? इन सब विपत्तियों का एकमूल व **हमारी स्वार्थपरता**। न हम लोग स्वार्थी होते न भगवती भारत वसुंधरा शोचनीय दशा होती। इसी स्वार्थपरता के वशीभूत ही दुर्योधन ने कुरुक्षेत्र वे

भारत के रत्नों की आहुति दे दी। इसी स्वार्थ के कारण जयचन्द ने भारत में यवन-पताका फहरा दी। इसी स्वार्थ के कारण आज बहुत से मतमतान्तर व स्वार्थमय संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ है। जब कभी स्वार्थ आया सुखरूपी सूर्य अन्तर्ध्यान हुआ। स्वार्थवशात् ही आपसी फूट का जन्म होता है।

स्वार्थ की रागात्मक और द्वेषात्मक अवस्थायें ही लोभ और विरोध का रूप धारण कर लेती हैं। बिना स्वार्थ न किसी को लोभ होता है न किसी से विरोध होता है। भारत की समस्त विपत्तियों का मुख्य कारण स्वार्थ है, चाहे गौण हेतु कुछ भी हो।

एक ही मार्ग : देशभक्ति—एक ओर भारत में जहाँ स्वार्थ के दुष्परिणाम स्पष्ट-तया परिलक्षित हैं वहाँ दूसरी ओर जर्मनी, ब्रिटेन, रूस तथा जापान इत्यादि देशों में वे सुख व ऐश्वर्य साधारण जनों को प्राप्त हैं, जो भारत में धनाढ्य जनों को दुर्लभ हैं। ऐसा क्यों ? इसका एक ही उत्तर है देशभक्ति। श्री लक्ष्मी निस्सार आवाहन से, थोथी भक्ति से, मंत्र जपने से और शंख फूकने से न प्रसन्न होती हैं और न किसी को धन देती हैं वे चाहती हैं, त्याग, श्रम और उत्कट देशभक्ति। देशभक्ति का शाब्दिक अर्थ है "हाथी के पैर में सबका साझा" अर्थात् देशगत सुख-दुःख से व्यक्ति-गत सुख-दुःख सटा हुआ है।

इतिहास साक्षी है जब उत्तर भारत में मुगलशाही डंका बजा रही थी, दक्षिण भारत में आदिलशाह की सुल्तानी चमक रही थी, तथा सर्वत्र आर्य सन्तानों को दिन काटने कठिन हो रहे थे कि इस बीच दक्षिण में देशभक्ति की ऐसी तरंग आई कि स्वामी रामदास के आह्वान पर समस्त प्रदेश देशभक्ति के रंग में रंग गया। इसी प्रकार लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक तथा महात्मा गाँधी के आह्वान पर अंग्रेजी साम्राज्य को उखाड़ फेकने के लिये आजादी की एक लहर उमड़ पड़ी। सब कोई सब जगह गाने लगे "मेरा रंग दे बसंती चोला" इसी एक उद्देश्य से हमें अपना लक्ष्य प्राप्त हुआ। अतः यह निश्चित है कि देशभक्ति मोक्ष का द्वार खोलने की कुंजी तथा मनुष्य को आत्मज्ञान का अधिकारी बनाने की महौषधि है जिससे चित्त का राग क्षीण होता है और ज्ञान चक्षु खुलते जाते हैं। यदि जप, तप तथा येन केन प्राकरेण मुक्ति जन्म-जन्मान्तरों में मिलेगी तो देशभक्ति एक ही जनम में "हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्" उपलब्ध कर देगी।

देश सर्वोपरि—यद्यपि इतिहास में दीप बहुत जले हैं परन्तु साहस से जो दीप जलते हैं वे इतिहास के पृष्ठों पर से उभर कर कालक्रम में अंकित होते हैं। यह भाव हैं कोजाई नामक जापानी कवि की एक कविता के।

जो मनुष्य चला लक्ष्मी को अचला समझे हुए मातृभूमि के मूल में कुठार चलाने को कमर कसे हुए है, जो अनित्य विषयभोगों के लिए विश्वासघात और देशघात करने को कटिबद्ध है, जो क्षणभंगुर देह में कष्ट आ पड़ने के भय से स्वदेश को दूर से ही प्रणाम करता है, क्या यह सम्भव है कि वह इस संसार को मायाजाल समझ सकता है, क्या वह इस भवसागर से पार हो सकता है ? जो मनुष्य किसी की तनिक शाबासी से फूल कर कुप्पा हो जाता है या भृकुटी से घबरा कर रसातल में प्रवेश कर जाता है तो क्या यह सम्भव है कि वह सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय और मानापमान की उपेक्षा करके कर्मयोग में प्रवृत्त हो सकता है ?

पीढ़ियों से मनुष्य जिस देश में वास करता आया है, जिसके जलवायु से उसका शरीर बना हुआ है, जहाँ उसका निर्माण हो रहा है, जहाँ उसके पूर्वजों के शरीर उत्पन्न और विलीन हुए हैं, जिसमें उसके जाति की महत्ता होती चली आती है, जिसके दर्शनमात्र से उसको अवर्णनीय आनन्द, जो उसका और उसकी जाति का आधार है, जिस जाति का रक्त उसकी नाड़ियों में संचार करता है, जिस जाति और बिन्दु से उसका शरीर बना है, जिस जाति की मानसिक और शारीरिक प्रवृत्ति उसको दान रूप में मिली है, जिस जाति के समष्टिगत सुख-दुःख और मानापमान से उसका व्यक्तिगत जीवन और मानापमान जुड़ा हुआ है, जिन जातीय महात्माओं व राष्ट्रनायकों के चिन्तन व कार्यकलाप उसने प्राप्त किये हैं, मनुष्य उस देश, जाति व महापुरुषों का ऋणी है।

निष्काम कर्म करें—एतदर्थ देशवासियों को ऐसे कर्म करने की आवश्यकता होती है जिनमें ओज, त्याग और विवेक की आवश्यकता है। कर्म इस संसार में बहुत से हैं परन्तु देशभक्ति ही एक ऐसा कर्म है जिसमें तीनों की त्रिपुटी विराजमान है आज देश में देशभक्ति की एक नई लहर जगाती है। इसे देशभक्ति पर्व कहा जाये तो उचित होगा। मैं तो इसे "देशभक्ति वर्ष" कहूँगा जिसमें समस्त नर-नारी भारत की प्रगति के लिये देशभक्ति में तत्पर रहें। निजी स्वार्थ व अर्थलोलुपता को त्याग दें और जो नहीं त्यागते उन्हें समाज स्वयं त्याग दे, ताकि—

समस्त देशवासी
भूल सब जातिपाति
आने वाले इतिहास के लिये
छोड़े सुदृढ़ थाती।

●